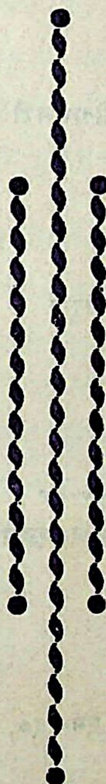
कविराज जी का साहित्य महाओंकार की भाँति अद्भुत एवं मधुर है। इसमें कहीं तो कोमल परदों पर सुमिष्ट रस का उल्लासपूर्ण रूपायन है, तो कहीं अच्छेद्य परिभाषाओं की कठोर शृङ्खल झंकार! दोनों अतियों में उनकी लेखनी सहज सावलील विहार करती सी प्रतीत होती है। सर्वान्त में उनकी समन्वयात्मिका प्रज्ञा के जीवन्त कणों का संस्पर्श मिलने से सब कुछ अमृतमय हो उठता है।



तांत्रिकी ग्रन्थमाला, (द्वितीय खण्ड)

गुरुदर्शन



मूल लेखक

पद्मविभूषण महामहोपाध्याय डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज

अनुवादक

एस० एन० खण्डेलवाल

● संरक्षक
महामहोपाध्याय आचार्य रामेश्वर झा

● ग्रन्थमाला प्रवर्त्तक
महातंत्रयोगी दादा सीतारामजी

● प्रधान सम्पादक
आचार्य ब्रह्मगोपाल भादुरी

● परामर्शदाता
भूपेन्द्र नाथ सिंह, एम० ए०
राधिका रमण श्रीवास्तव, एडवोकेट

● प्रकाशक
डॉ० रमेश परमहंस, एम० ए०, पी-एच० डी०
तान्त्रिकी प्रकाशन
बी० ३१/३२ लंका, वाराणसी

● मुद्रक
सन्तोष कुमार उपाध्याय
नया संसार प्रेस, भदैनी वाराणसी

निवेदन

तांत्रिकी ग्रन्थमाला (द्वितीय खण्ड) के रूप में 'गुरुदर्शन' की शब्दानुकृति प्रकाशित है। अन्तर्जगत् की अनन्त यात्रा में गुरुतत्त्व के क्रमिक साक्षात्कार का लक्ष्यनिष्ठ साधक के सम्मुख (प्रत्येक स्तर में) जो स्वरूप उद्घाटित होता है, वही प्रस्तुत पुस्तक का आलोच्य विषय है।

तंत्रफाउन्डेशन की सहसंस्था इन्डियन इन्स्टिट्यूट आफ तांत्रिक स्टडीज के संयोजकत्व में भारतीय साधनधारा का अनुभूतिपूर्ण स्वरूप जनमानस के सम्मुख प्रस्तुत करने का जो लक्ष्य अपनाया गया है, उसके अन्तर्गत महामनीषी कविराज जी की यत्र-तत्र बिखरी साधन परिपूत वाणी का संकलन "तांत्रिकी ग्रन्थमाला" के विभिन्न खण्डों में उपलब्ध होता रहेगा। इस सद्योजना के अन्तर्गत तृतीय खण्ड "आन्वीक्षिकी" एवं चतुर्थ खण्ड "आत्म निर्झर" मुद्रणाधीन है। सुविज्ञ पाठकों की सेवा में इनका यथाशीघ्र प्रस्तुतीकरण होगा।

गुरुपूर्णिमा, १९८१

निवेदक

ब्रह्मगोपाल भादुरी

राज्यपाल,
उत्तर प्रदेश

राज भवन
लखनऊ
नवम्बर १७, १९७९

मुझे यह जानकर हर्ष है कि वाराणसी तथा दिल्ली में इन्डियन इन्स्टिट्यूट आफ तांत्रिक स्टडीज की स्थापना तंत्र विद्या के बृहत्तर अध्ययन हेतु की गई है। तंत्र विद्या भारतीय संस्कृति की रहस्यमय शाखाओं में है, और आज अत्यन्त आवश्यक है कि इस विद्या का व्यापक अनुशीलन तथा गहन अध्ययन करके आधुनिक जगत के सम्मुख रखा जाय। मैं आशा करता हूँ कि उपरोक्त संस्था इस दिशा में सफलता प्राप्त करेगी तथा मैं उसके उज्ज्वल भविष्य के लिये अपनी हार्दिक शुभकामनायें भेजता हूँ।

ग० दे० तपासे

राज्यपाल,
उत्तर प्रदेश

राज भवन
लखनऊ
मार्च १७, १९८०

हर्ष का विषय है कि इन्डियन इंस्टीट्यूट आफ तांत्रिक स्टडीज ने कविराज पं० गोपीनाथ जी की पुण्य स्मृति में दर्शन एवं प्राच्य विद्याओं पर "तांत्रिकी" नामक ग्रन्थ, १०० खंडों में, प्रकाशित करने का निश्चय किया है।

जैसा कि हमें विदित है, भारतीय चिन्तन प्रणाली एवं दर्शन धारा का मूलाधार आध्यात्मिकता व पराभौतिक विषय रहे हैं। आज बाह्य चकाचौंध तथा भौतिक मरीचिका से दुखी पीड़ित मानवता उस क्षेत्र क्षितिज की ओर शनैः शनैः परन्तु निश्चित रूप से लौट रही है। इस सन्दर्भ में आयोजित ग्रन्थ का निःसन्देह सार्वभौम महत्व होगा तथा इस पवित्र आयोजन की सफलता के लिये मैं अपनी हार्दिक शुभकामनायें भेजता हूँ।

च० प्र० ना० सिंह

श्री खण्डेलवाल जी,

आप द्वारा प्रेषित तंत्र प्रतिष्ठान के परिपत्रों को मैंने ध्यान से पढ़ा। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप तंत्र के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने का अनवरत प्रयास कर रहे हैं। यह अत्यन्त उपयुक्त कार्य है। 'तंत्र भारत का महान् विज्ञान है।' इसके विधिवत् ज्ञान को विविध रूपों से लोगों को सिखाने का कोई माध्यम देश में नहीं है। इसकी आज आत्यंतिक आवश्यकता है। तंत्र के अनुसार मनुष्य अपने जीवन काल में भौतिक आवश्यकतायें तथा आध्यात्मिक ज्ञान, दोनों प्राप्त कर सकता है। मैं समझता हूँ कि इस विज्ञान के अभाव में आज देश को दुःख, दैन्य व निराशा का सामना करना पड़ रहा है। तंत्र शक्ति जागरण का विज्ञान है। जन-जन में शक्ति जागरण से ही देश की समस्याओं का हल हो सकेगा एवं भारत पुनः विश्व गुरु बन सकेगा। शब्द ब्रह्म की साधना तथा षट्दर्शन ऋषियों की गहन अनुभूति का प्रतिफल है। यही भारतीय विद्याओं की भित्ति है। शब्दब्रह्म ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति। स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं निग्रह का मूल कारण है। इसी में भारतीय संस्कृति का महाशक्ति विज्ञान अन्तर्लीन है। यह विज्ञान अथाह शक्ति सम्पन्न है, अतएव महाविज्ञान है।

तांत्रिकी द्वारा इस प्रतिष्ठान के माध्यम से प्रथम बार महाशक्ति के विविध रूपों का दिग्दर्शन मानव मात्र को हो सकेगा। इस आदि रहस्य को जगत् में प्रतिपादित करने हेतु तथा भविष्य में मानव संचेतना के विकास, संयोजन एवं दिग्दर्शन हेतु इस ग्रन्थमाला की एक आवश्यकता है। श्रद्धेय पं० कमलापति त्रिपाठी जी का आपको आशीर्वाद प्राप्त हो चुका है। यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई। मेरा आपको सक्रिय सहयोग सदैव रहेगा।

शुभ कामनाओं के साथ !

आपका

मायापति त्रिपाठी

अध्यक्ष

अखिल भारतीय किसान मजदूर वाहिनी

७ विधान सभा मार्ग

लखनऊ

ाि

विविध

अमृतवाणी	—	महातंत्र योगी दादा सीताराम
ज्ञानमूर्ति कविराज जी	—	डॉ० श्यामबहादुर वर्मा

अमृतवाणी

—महातंत्र योगी दादा सीताराम

मनीषियों ने तीन मुख्य साधन धारा का उपदेश किया है—ज्ञान, योग एवं भक्ति। विचार करने पर विदित होगा कि वास्तव में अलग संज्ञा होने पर भी इनमें तारतम्य है। बिना ज्ञान के योग नहीं और योग की चरम स्थिति ज्ञान ही है। अनुरक्ति रूप भक्ति के विना न तो ज्ञान में गति होगी और न योगाभ्यास ही सम्भव है। जब तक इन तीनों का सामञ्जस्य नहीं होगा तब तक कल्याण की आशा व्यर्थ है। महाज्ञानी योगी वेदव्यास को भक्ति की शरण लेनी पड़ी तथा भक्तों को परमेश्वर साक्षात्कार से परम ज्ञान का लाभ हुआ, यह इतिहास का एक तथ्य है। अखण्ड महायोग की साधन धारा में ज्ञान, योग और भक्ति, इन तीनों का सामञ्जस्य है। साधना के प्रत्येक स्तर पर साधक सत्य का अनुभव कर सकता है।

अखण्ड महायोग में परम प्राप्तव्य श्री श्री माँ हैं। ये अक्षत कुमारी रूपा हैं। ये अविजित हैं। इनका दर्प अव्यपोह्वत है। दुर्गा सप्तशती में इनकी उक्ति है—

योो मां जयति संग्रामें यो मे दर्पोव्यपोह्लति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति॥

महाशक्ति श्री माँ का आश्रय लाभ किये विना परम प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होना असम्भव है। सब के मूल में जो शक्ति है, वह आदि और अन्तिम दोनों है। एक मात्र वे ही द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य, दुख-सुख, आशा-निराशा, पिता-पुत्र, सेव्य-सेवक आदि भावरूपा बनकर आनन्दमय खेल खेल रही हैं। जीवात्मा-परमात्मा आदि जो कुछ है, सभी उन्हीं का भाव है। जैसे घट टूटने पर अखण्डव्यापी आकाश है, वैसे माया घट के टूटने पर मां का अनन्त रूप परिस्फुट होता है। कितने शास्त्रों को पढ़ डालिये कोई उसका दर्शन पा नहीं सकता। अन्त में थक जाने पर बालक के सदृश सरल दशा प्राप्त करते ही जगत् जननी सम्बन्धी ज्ञान में अधिकार प्राप्त होगा। बालक पहले भी बालक, अन्त

में भी वालक रह जाता है। सरलता ब्रह्ममयी का मार्ग है। सरलता कैसे आयेगी ? जन्म जन्मान्तर की कुटिलता कैसे दूर होगी ? कर्म से। कर्म ही सरल एवं निर्भरशील वनाता है। निर्भरशील को छोड़कर कौन स्वर्ग का प्रकाश पृथ्वीपर लायेगा ? द्वेष, हिंसा, स्वार्थ आदि से भरे इस संसार में स्वर्ग की शोभा अवश्य आयेगी। निर्भरशीलता माँ का रूप प्रकट करके रहेगी।

इस निर्भरशीलता तथा सरलता का उद्‌घोष सारे संसार में करना है। यहां की सारी समस्याओं का हल इसी में निहित है। महाशक्ति की कृपा ही विज्ञान है। मां की कृपा ही अणु-अणु का परिवर्तन करने में समर्थ है। कर्म इसकी आधार शिला है। कर्म के वेणुनाद से आकृष्ट होकर निर्भरता एवं सरलता स्वतः हमारा वरण करेगी। सरसों मात्र पवित्रता आ गई तो महाशक्ति मां की कृपा प्राप्त हो जायेगी। उसके कृपाकण में ही इतनी शक्ति है कि सारे ताप, ज्वाला, यन्त्रणा, आसक्ति आदि भस्म हो जायेंगे। कृपा के बारे में कुछ लिख सकना असम्भव है। भाषा में इतनी शक्ति नहीं कि उसका वर्णन कर सके। एक ही उद्‌घोष जानता हूँ, सरल वनो, निर्भरशील वनो और यह होगा कर्म से।

कर्म होता कहां है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। उत्तर दिया जा सकता है कि कर्म होगा आसन पर। पर अखण्ड महायोग का दृष्टिकोण भिन्न है। जो आसन पर आसीन होकर कर्म करेगा वह वालक कहाँ ? वह तो प्रौढ़ है। जव प्रौढ़ है, तब माँ का अहैतुक वात्सल्य मिल सकना कठिन है।

अखण्ड महायोग की साधना आसन पर नहीं होती। इसके कर्म का प्रारम्भ माँ की गोद में बैठ कर होता है। यह माँ की गोद भगवती सुषुम्ना है। गुरु से इनका संधान पाकर शिष्य को ध्यान काल में अपना अस्तित्व इन्हीं सुषुम्ना की तरंग में छोड़कर बैठ जाना है। उसे करना कुछ नहीं है। कुछ भी कर्तृत्त्व किया नहीं कि उस धारा से अलग हुआ। शिशुवत् पड़े रहने से वह प्रवाह स्वयं गन्तव्य की ओर ले जाता है। न तो ध्यान करना है न जप। बस बैठे रहना ही कर्त्तव्य है।

किया जाता है इन्द्रियों से। उपनिषद् कहते हैं, इन्द्रियों की गति बहिर्मुखी है। आँखें रूपासक्त हैं। कान सुनने में रत है। नाक घ्राणमयी है। त्वचा स्पर्श से प्रफुल्लित या दुखित होती है। जिह्वा रसास्वादन में प्रवृत्त है। पाँचों इन्द्रियों के विषयं वाहर हैं, अन्दर नहीं। जब भी इनकी सहायता लेकर

कोई भी साधना की जायेगी, इनका बहिर्मुखी प्रवाह बाहर फेंक देगा। अतः अखण्ड महायोग की दृष्टि से बिना इनकी उपयोगिता स्वीकार किये भगवती सुषुम्ना का आश्रय लिया गया है, जिसका संधान गुरु देते हैं। कवि विद्यापति कहते हैं कि जन्म से ही आँखें रूप निहार रही हैं, पर ये नयन तृप्त नहीं हुए। होता यह है कि आँखे सुनती नहीं, स्पर्श नहीं करती, गन्धास्वादन नहीं कर सकतीं, श्रवण का तो कोई सवाल ही नहीं। वहाँ दृश्य दर्शन एकांगी ही रहता है, अतः अतृप्ति रहती है। परन्तु सुषुम्ना की गोद में यह सब एक है, अतः परम तृप्ति का आभास प्राप्त हो जाता है।

महामुनि मार्कण्डेय प्रलयकाल में अगाध जलराशि में संचरण कर रहे हैं। आकाश तक दृष्टि जाती है। चारो ओर जल ही जल है। महाज्ञानी मुनि का सारा ज्ञान योग तिरोहित हो जाता है। आर्तभाव का उदय होता है। देखते हैं, सामने एक नयनाभिराम बालक एक पत्ते पर लेटा हुआ मन्द-मन्द मुस्कान भर रहा है। कहते हैं पुराणों में रूपक दिया गया है। जो भी हो, मुझे इससे कोई सम्बन्ध नहीं। अखण्ड महायोग की दृष्टि से वही बालक ही वास्ताव में सबका इष्ट है। ज्ञानियों के कथनानुसार कैवल्यदेह बालकवत् होता है, और साधना की चरम गति शास्त्रों में कैवल्य प्राप्ति कही गई है। बालक निर्मलता का प्रतीक है, और वह निर्मलता बनावटी साधनों से नहीं आ सकती। स्वभाव की स्वतःस्फूर्त्त धारा में बहना होगा और वह धारा सुषुम्ना की धारा है।

कहने का अन्त नहीं। पर अधिक कहना व्यर्थ है। यह कर्म क्षेत्र है। इस पर कूद पड़ना आवश्यक है। किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं होना चाहिए। गीता में भगवान कहते हैं :—

शरीर, शिर और ग्रीवा को सीधा रखकर अन्य दिशाओं को न देखते हुए नासाग्र में ध्यान करो।

समं काय शिरोग्रीवं, धारयन्नचलं स्थिर
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रंस्वं, दिशश्चानवलोकयन्।

यहाँ जिस नासाग्र की बात कही गई, वहीं मां की गोद में जाने का संधान मिलता है। शास्त्रों ने अतिगुप्त रूप से कहकर इसका रहस्य गुरुगम्य कर दिया। यहाँ मां के स्पन्द का अनुभव होगा, जो स्वतः खींचता हुआ मां की गोद में स्था—

प्लुत कर देगा। यह नासाग्र विन्दु कहाँ है, इसका संधान संसार पर करुणार्द्र दृष्टि वाले योगिराजाधिराज विशुद्धानन्द परमहंसदेव ने महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज को दिया, जिन्होंने कृपापरवश होकर मेरा जीवन सफल बनाने के लिये पितृवत् स्नेह के वशीभूत होकर मुझे इसकी शिक्षा दी। यहीं सर्वकर्म का सन्यास सम्भव है और अक्रिय होकर सब पाना सन्निहित है।

हे मां! सारी विद्यायें तुम्हारी ही अनुकृति हैं। संसार की समस्त स्त्री जाति तुमसे ही समुद्भूत है। अधिक क्या स्तुति करें, सारे जगत में केवल मात्र तुम ही दृष्टिगोचर होती हो। कोई भी वाणी तुम्हारी स्तुति करने में समर्थ नहीं।

जय माँ!



ज्ञानमूर्ति कविराज जी

डा० श्यामबहादुर वर्मा

वाराणसी के भारतरत्न डॉ० भगवानदास दर्शन के असाधारण विद्वान थे। एक बार आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने 'बौद्ध धर्म दर्शन' ग्रन्थ की उस भूमिका को उनसे सुनने का आग्रह किया जिसे किसी विद्वान ने लिखा था और जिसमें तान्त्रिक बौद्ध धर्म का विवेचन था। स्वयं तन्त्र ही और फिर बौद्धधर्म का तांत्रिक स्वरूप—इन दोनों के प्रति जनसामान्य में पायी जाने वाली अश्रद्धा स्वयं वयोवृद्ध डा० भगवानदास में भी थी। अत: उस भूमिका को सुनने में वे पहले तो अनिच्छा प्रकट करते रहे परन्तु विद्वान भूमिका लेखक के नाम के कारण जो उत्सुकता उनके मन में थी, अन्तत: उसी की विजय हुई, और जब आचार्य नरेन्द्रदेव से उन्हें पूरी भूमिका सुनने को मिली, तो डा० भगवानदास ने अनुभव किया कि जैसे ज्ञान का एक नया कक्ष उनके सामने खुल गया हो। मानो वे अभी तक अन्धकार में ही थे और उन्होंने आचार्य नरेन्द्रदेव से कहा—"आज हमारे जीवन की एक भ्रान्त धारणा दूर हो गयी। तान्त्रिक बौद्धधर्म में इतना गुरुत्व और गम्भीर रहस्य है, यह मुझे ज्ञात नहीं था। किन्तु अब उसके अध्ययन का समय नहीं रहा।" अपनी वृद्धावस्था के कारण वे नया अध्ययन प्रारम्भ कर सकने में समर्थ नहीं थे, परन्तु उनके जीवन भर की मान्यताओं को क्षण भर में एक नयी दिशा दे सकने में समर्थ जिन विद्वान लेखक के ज्ञान की एक किरण मात्र थी, उनका अध्ययन कैसा अगाध रहा होगा! ऐसे ज्ञानमूर्त्ति थे हमारे महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज!

बंगाल में एक प्रतिभाशाली छात्र थे—श्री बैकुण्ठनाथ, जो स्वयं अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्यार्थी रहे थे—एन्ट्रेन्स व एफ० ए० में प्रथम श्रेणी पाने वाले तथा बी० ए० में प्रथम श्रेणी और सर्वोच्च स्थान पाने वाले तथा संस्कृत, अंग्रेजी और दर्शन तीनों में विशेष योग्यता के अंक पानेवाले। स्वामी विवेकानन्द उनके सहपाठी भी थे, मित्र भी। अपनी एम० ए० संस्कृत के पूर्वार्द्ध की परीक्षा देने से पूर्व ही वे ३० अप्रैल १८८७ में दिवंगत हो गए थे, उन्हीं की पत्नी सुखदासुन्दरी ने ७ सितम्बर १८८७ ई० को जिस बालक को जन्म दिया था,

उस के कितने ही नाम रखे गए थे—धर्म, निवारण, अक्षय, इत्यादि। ज्योतिषी का दिया नाम था 'अश्विनी।' किंतु प्रचलित एक और नाम हुआ जो काठालिया के निवासी, बालक के मामा पं०कालाचन्द सान्याल ने गृहदाता के नाम पर रखा था—गोपीनाथ।

काठालिया के प्राथमिक विद्यालय में उन्होंने शिक्षा ली। फिर अन्यत्र के नए अंग्रेजी स्कूल में ग्यारह वर्ष में प्रवेश मिला। १३ वर्ष की अवस्था में कुसुमकामिनी देवी से विवाह-वन्धन में बँध जाने पर भी अध्ययन चलता रहा। ढाका के जुबिली स्कूल में प्रवेश लेकर प्रथम श्रेणोमें एन्ट्रेन्स परीक्षा उत्तीर्ण की। तब १८ वर्ष के थे। १९ वर्ष की अवस्था में जयपुर के महाराजा कालेज में प्रवेश लिया। निवास की व्यवस्था कर दी थी महाराजा के व्यक्तिगत सचिव श्री अविनाशचन्द्र सेन ने अपने घर पर, और भोजन की व्यवस्था कर दी थी महामहापोध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री के सबसे छोटे भाई ने अपने घर पर। अभावों से संघर्ष करता यह युवक अध्ययन कर रहा था, परन्तु देश भी दृष्टि में था। १९०६ ई० के वङ्गभङ्ग आन्दोलन के अवसर पर हुए कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन में युवक गोपीनाथ ने राजस्थान के प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप में भाग लिया था। विपिन चन्द पाल से तो पहले से ही परिचय रहा था, इस बार लोकमान्य तिलक और लाला लाजपत राय की भव्य मूर्तियाँ भी देखने को मिलीं और भारतीय राजनीति के वयोवृद्ध नेता दादाभाई-नौरोजी भी।

वे १९१० तक जयपुर रहे बी०ए० की परीक्षा प्रयाग में दी। क्वींस कालेज वाराणसी में एम० ए० प्रथम वर्ष संस्कृत में प्रवेश लिया तो परीक्षार्थ प्रयाग जाने पर आचार्य नरेन्द्रदेव से सम्पर्क हुआ, जो एम० ए० द्वितीय वर्ष में उनके सहपाठी हो गए क्योंकि गोपीनाथ जी बीच में एक वर्ष अस्वस्थ रहे और कलकत्ता, पुरी आदि में चिकित्सा कराते रहे। १९१३ में उन्होंने एम० ए० संस्कृत में प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर लिया। लाहौर कालेज व मेयो कालेज के प्राचार्यों के नियुक्ति तार मिले किंतु क्वीन्स कालेज के विद्वान प्राचार्य वेनिस के प्रति अत्यधिक श्रद्धाभाव के कारण उनकी असहमति रहने से कहीं नहीं गए। ऐसी थी उनकी गुरु भक्ति।

अपने कालेज जीवन में विद्यार्थी गोपीनाथ के अध्ययन की व्यवस्थित प्रणाली का किंचित् परिचय उनकी उन तीन प्रकार की डायरियों की

झांकी से मिल सकता है, जिनमें वे क्रमशः प्रतिदिन जो साहित्यक ग्रन्थ पढ़ते थे, उनका कथ्य और उस पर अपनी समीक्षात्मक टिप्पणी अंकित करते थे, तथा पुस्तकों का प्राप्ति स्थान भी अंकित कर लेते थे। दूसरी डायरी में वे अक्षर क्रम से पाठ्य विषय से सम्बन्धित शब्दों का विवरण अंकित करते थे, और तीसरी डायरी में वे भारतीय तिथि क्रम ६०० ई० पू० से लेकर वर्तमान इतिहास को सजाते चलते थे।

निःसन्देह ऐसे प्रतिभाशाली तथा सर्वत्र प्रथम श्रेणी व सर्वोच्च अंक पाने वाले विद्यार्थियों की अध्ययन विधियों का अध्ययन भी रोचक व उपादेय होगा। डा० वेनिस ने १६१४ ई० में अवकाश ग्रहण किया और अप्रैल १९१४ में सरस्वती भवन के अध्यक्ष रूप में गोपीनाथ जी कार्य करने लगे। १४ अप्रैल १६१८ को डॉ० वेनिस का देहावसान हो गया। सरस्वती भवन ग्रन्थमाला को डा० वेनिस के उपदेश से गोपीनाथ जी ने प्रारम्भ किया। 'प्रिन्स आफ वेल्स सरस्वती भवन टेक्ट्स' तथा 'प्रिन्स आफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज' नामक पुस्तकमालाओं के भव्य सम्पादन व प्रकाशन ने गोपीनाथजी की कीर्ति को यत्र-तत्र सर्वत्र फैला दिया। १९३७ ई० में उनके अवकाश ग्रहण करने तक ७० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे। इसी बीच १९२४ ई०में डा० गङ्गानाथ झा के अवकाश ग्रहण पर वे गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, वाराणसी के प्राचार्य नियुक्त हो गए थे। १९३७ में बेरी-बेरी रोग के कारण उन्होंने पदत्याग कर दिया, परन्तु साहित्य-साधना और धर्म-साधना आजीवन चलती रही। अपने भरे-पूरे परिवार के बीच भी वे जिस साहित्य का सृजन करते रहे, उसी की सम्मान सूचक हैं वे उपाधियां आदि जो उन्हें विभिन्न संस्थानों से प्राप्त हुईं। उदाहरणार्थ—

महामहोपाध्याय (भारत सरकार) ४ जून १९३४ ई०
कारोनेशन पदक (भारत सरकार) १ सितम्बर १९३७ ई०
डी० लिट्० (इलाहाबाद विश्वविद्यालय) १९४७ ई०
डी० लिट्० (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) १९५६ ई०
सम्मान का प्रमाण पत्र (राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा) १९५९ ई०
फेलोशिप (वर्दवान विश्वविद्यालय) १९६४ ई०
पद्मविभूषण (भारत सकार) २६ जनवरी १९६४ ई०
फेलोशिप (रायल एशियाटिकसोसायटी आफ बंगाल) १९६५ ई०

डी० लिट् (कलकत्ता विश्वविद्यालय) १९६५ ई०
साहित्यवाचस्पति (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) १९६५ ई०
सर्वतन्त्र सार्वभौम (गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, कलकत्ता) १९६७ ई०

गङ्गानाथ झा इन्स्टीट्यूट, प्रयाग के अध्यक्ष पद पर वे १९६६ में रहे। उनकी प्रसिद्ध कृति 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' को साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया था।

वे गम्भीर दार्शनिक विद्वान ही नहीं, आध्यात्मिक साधना पद्धतियों में निष्णात भी थे। उनकी अनेकानेक कृतियाँ अन्य भाषाओं (अंग्रेजी, बंगाली, संस्कृत) में देखी जा सकती हैं, परन्तु हिन्दी में उनके निम्नलिखित ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए हैं--

तान्त्रिक साधना एवं सिद्धान्त, पूजातत्व, तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, भारतीय संस्कृति और साधना (भाग १ व २), काशीकी सारस्वत साधना, तान्त्रिक साहित्य, तंत्र और आगम शास्त्र का दिग्दर्शन, श्री कृष्ण प्रसंग, साधुदर्शन और सत्संग अखण्ड महायोग, श्री श्री विशुद्धानन्द प्रसंग एवं सम्बोधि।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज को जिन आध्यात्मिक विभूतियों का प्रचुर सत्संग मिला, उनकी संख्या बता पाना भी सम्भव नहीं है। पूर्व जन्म के पुण्य, जीवन भर की पवित्रता तथा ज्ञान-साधना व कर्म साधना की आध्यात्मिक समृद्धि के कारण ही वे इतने भाग्यशाली आध्यात्मिक पुरुष हुए। योग, तन्त्र वैष्णव साधना, बौद्ध साधना, शैव साधना, शाक्त साधना, आदि के रहस्यमय जगत् में वे एक सुपरिचित यात्री की भाँति विचरण करते हुए अपने ज्ञानबल तथा अनुभव-बल से हमें सहज ही प्रभावित कर लेते हैं। बहुत बार उनकी भाषा हमारी शंकाओं को तेजी से सुलझाती चलती है, परन्तु बहुत बार ऐसा नहीं भी होता है, और तब उनकी लेखनी अपनी रत्नदीप्ति से हमें चकाचौंध करती, आश्चर्यचकित करती, भावविभोर करती, किन्तु उलझाती भी चलती है, जिससे अनन्त में डुबकी मार कर रहस्यों को स्वयं जानने की जिज्ञासा जागती है और समस्याओं को स्वयं सुलझाने की प्रेरणा भी मिलती है।

आजकल मानव की महिमा को बड़े जोर-शोर से गाने को आधुनिकता कहा जाता है। प्राचीन भारत में भी मानव की महिमा को स्पष्ट घोषित किया गया था। स्वयं महाभारत में भगवान व्यास ने कहा है—

"मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ कुछ नहीं है।" किन्तु इस सूत्र की व्याख्या महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी ने जिस स्पष्टता से की है, वह असाधारण ही है--

"मनुष्यदेह वस्तुतः समस्त विश्व का प्रतीक है। नीचे, ऊपर और बीच में जहाँ जो कुछ है, सबका सारग्रहण करके यह शरीर रचा गया है। इसीलिए कहा जाता है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में और जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखलाया था, परन्तु वस्तुतः सब कुछ ही विश्वरूप है। केवल अपना स्वरूप विस्मृत हो जाने के कारण मनुष्य अपने को विश्वरूप में पहचान नहीं सकता। मनुष्य केवल विश्वरूप ही है, ऐसी बात नहीं है। वह तो विश्व से भी अतीत है। मनुष्य विश्व भी है और विश्वातीत विशुद्ध प्रकाश स्वरूप भी है–एक ही साथ दोनों है। इस कारण पूर्णत्व की अभिव्यक्ति मनुष्य में ही संभव है। पशु पक्षी की देह में जैसे पूर्णत्व का अभिज्ञान नहीं होता, वैसे ही देव देह में भी नहीं होता। क्योंकि दोनों प्रकार की देह भोग देह के अन्तर्गत है। कुण्डलिनी शक्ति निद्रित रहने पर भी एकमात्र मनुष्य देह में ही जाग्रत होती है। यहाँ तक कि मनुष्य देह में ही उसका पूर्ण जागरण सम्भव है। देवताओं में जो पुण्य कर्म के फल से भोग और ऐश्वर्य में प्रतिष्ठित हैं, वे अपूर्ण हैं। अखण्ड ज्ञान, अखण्ड ऐश्वर्य, अखण्ड भाव, ये सब एकमात्र मनुष्य देह में ही, अवस्था विशेष में ही, व्यक्त हो सकते हैं। मनुष्य के सिवा अन्य किसी योनि में पूर्णत्व के मार्ग पर आरूढ़ होना सम्भव नहीं। इसी से शास्त्र कहते हैं कि देवगण भी मनुष्य शरीर की स्तुति किया करते हैं।"

इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए इसी "मनुष्यत्व" निबन्ध में वे लिखते हैं—

"मनुष्य शरीर का गुरुत्व इतना अधिक है कि वह विश्वगुरु के साथ अभिन्न होकर जब तक इच्छा हो, तब तक सिद्ध स्वरूप में विश्वगुरु के प्रतिनिधि अथवा परिवार के रूप में जगत् के सेवाकार्य या जीव के उद्धार कार्य में अपने को नियुक्त रख सकता है। अतएव मनुष्य देह का गौरव केवल ब्रह्म को प्रत्यक्ष जानने में नहीं है, केवल ब्रह्मानन्द का स्वयं भोग करने में नहीं है, बल्कि निर्विषय रूप ब्रह्मानन्द को सब में वितरण करने का अधिकार प्राप्त करने में है। कहने की आवश्यकता नहीं कि देवताओं को भी यह अधिकार नहीं है। यह अवस्था दीर्घकाल तक रह सकती है और क्षणमात्र में ही विलीन हो जा सकती है। सब कुछ स्वेच्छाधीन है।"

कविराज खण्ड

○

लेखक

पद्मविभूषण महामहोपाध्याय डा० पं० गोपीनाथ कविराज
एम. ए., डी० लिट्

○

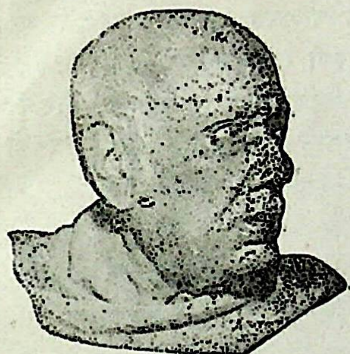
अनुवादक

एस० एन० खण्डेलवाल



गुरुदर्शन

○



सर्वप्रथम गुरुध्यान एवं गुरु नमस्कार आवश्यक है। कारण गुरु चिन्ताजनित शक्ति से शक्तिमान हो जाने के पश्चात् सूक्ष्म उपासना मार्ग में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। यद्यपि यह ध्यान स्वरूपतः नित्य गुरु का ध्यान है, तथापि प्राथमिक स्थिति में बाह्य गुरु की आकृति का ध्यान करना चाहिये। इसे अनुलोम एवं विलोम, दो प्रकार से किया जाता है। गुरु के चरण प्रदेश से प्रारम्भ करते हुये (प्रत्येक अंग का क्रमशः ध्यान करते करते) उर्ध्व भाग पर्यन्त अन्तर्दृष्टि से देखना तथा स्वचित्त को उससे संलग्न करना चाहिये। इस प्रकार चरण प्रदेश से लेकर गुरु के शिखा प्रदेश पर्यन्त ध्यान करने से अनुलोम क्रम अनुष्ठित हो जाता है। यह ध्यान करना चाहिये, पूरक क्रिया के साथ अर्थात् श्वास लेते समय। तत्पश्चात् उनके मस्तक के उर्ध्वतम स्थान पर (शिखाप्रदेश पर) एकाग्र होकर (प्राण की कुम्भकावस्था में) श्री गुरु के समस्त देह का अर्थात् शिखा प्रदेश से लेकर पादांगुष्ठ पर्यन्त का अखण्ड चिन्तन करना चाहिये। कुछ क्षण इस प्रकार ध्यान करने के पश्चात् विलोम चिन्तन की धारा प्रारम्भ होती है। इस प्रक्रिया में गुरु के शिखा प्रदेश से क्रमशः नीचे पादांगुष्ठ पर्यन्त उतरते-उतरते एक-एक अंग का चिन्तन करना कर्तव्य है—

यह ध्यान होता है रेचक स्थिति में अर्थात् श्वास बाहर छोड़ते समय। सर्वप्रथम पूरक, मध्य में कुम्भक, अन्त में रेचक। श्री गुरु पादुका का चिन्तन करने के पश्चात् स्वयं को साष्टांग भावना में रखकर भावना द्वारा चरण में प्रणाम किया जाता है। यह है आत्मनिवेदन की प्रक्रिया। आत्मनिवेदन से गुरु सत्ता और गुरु शक्ति साधक में आपूरित हो उठती है। अनुलोम ध्यान से लौकिक भेदात्मक भाव क्रमशः कटते जाते हैं और गुरु के शिरोदेश के ध्यान के समय, गुरुसत्ता के साथ अद्वैतावस्था की उपलब्धि होती है। कुंभक के समय गुरु के सर्वाङ्ग स्वरूप का चिन्तन, पक्षान्तर से स्वस्वरूपानुसंधान रूप में परिणत होता है।

अवरोह क्रम से विलोम चिन्तन के फलस्वरूप अभेदावस्था में भी एक अलौकिक द्वैतमय भेद का उन्मेष होने लगता है। इस स्थिति में शिष्य स्वयं की अणु रूप में और गुरु की महान् रूप में उपलब्धि करता है।

साष्टांग प्रणति का अर्थ है अपनी अणुरूपी सत्ता का गुरु की महत्तर सत्ता में विसर्जन। विसर्जन से साधक का आधार अहंकार शून्य हो जाता है, और गुरु सत्ता ही शुद्ध अहंरूप में (अप्राकृत स्वरूप में) साधक में कार्यशील हो जाती है।

इष्टमूर्ति का आविर्भाव



साधना प्रकृत देह में नहीं होती। शुद्ध अथवा अप्राकृत देह बिना साधना सम्भव नहीं है। साधक की वाह्य देह शुद्ध देह नहीं है। वह मायिक देह है। भावना द्वारा उसे शुद्ध किया जाता है। मायिक देह चाहे कितने ही उच्चस्तर की क्यों न हो, वह मायिक ही रहती है। निम्नस्तर से लेकर उर्ध्वस्तर पर्यन्त (मायिक देह में) सत्वगुण का उत्कर्ष रहने पर भी, उसमें विशुद्ध सत्व का अभाव ही रहता है। प्रकृत उपासना मायिक देह में नहीं हो सकती। जब तक उपास्य और उपासक एक भूमि में आरूढ़ नहीं होते तब तक प्रकृत उपासना असम्भव है। उपास्य का रूप अप्राकृत रूप है। उसके उपासक का रूप भी अप्राकृत होना आवश्यक है। अप्राकृत शुद्ध सत्व का नामान्तर है विन्दु। विन्दु में देवता की इष्टदेह कल्पित होती है। विन्दु कुण्डलिनी का नामान्तर है। इष्टदेह कुण्डलिनी से उद्भूत है, किन्तु साधक की देह कुण्डलिनी से प्रसवित नहीं है। वह माया से उद्भूत होती है। साधक की देह के उपादानस्थ मायिक सत्व की पृष्ठभूमि में विन्दु अथवा शुद्ध सत्व अवस्थित है, तथापि वह निष्क्रिय शुद्ध सत्व रूप है। इस निष्क्रिय विन्दु को निद्रित कुण्डलिनी की संज्ञा दी जाती है।

सद्गुरु के कृपाकटाक्ष से विन्दु कम्पित होता है, अर्थात् कुण्डलिनी जाग्रत हो उठती है। उसमें स्पन्दन का प्रादुर्भाव होने लगता है। यह कुण्डलिनी

की अनादि निद्रा है। इस निद्रा को आदि में स्वीकार करने से, यह मानना पड़ेगा कि इस निद्रा की आदि के पहले कुण्डलिनी जागृत थी, अतः इसे अनादि ही मानना होगा। यह द्वैत सिद्धान्तानुसरण में मान्य परम्परा है। अद्वैत दृष्टि से अनादि निद्रा का प्रश्न ही उत्थित नहीं होता। कृपाशक्ति का अर्थ है, चित्शक्ति, किन्तु विन्दु या शुद्ध सत्व मायातीत होने पर भी चित्शक्ति स्वरूप नहीं है। वह है शुद्ध अचित स्वरूप। विन्दु शुद्ध सृष्टि का उपादान है। गुरुशक्ति साधक के विन्दु में संचरित होकर विन्दु को कम्पित करती है और नाद एवं ज्योति की सृष्टि होती है। इन दोनों का आश्रय लेकर साधक की शुद्ध देह और उसके इष्टकी शुद्ध देह उद्भूत हो जाती है। साधक का अवस्थान ही साध्य की सत्ता का द्योतक है (अर्थात् यदि साधक है, उस स्थिति में साध्य कहीं न कहीं अवश्यमेव रहता है)। साधक और इष्ट के अनन्त रूप हैं। उनके पारस्परिक अनन्त सम्बन्धों की भी विद्यमानता है। ये समस्त सम्बन्ध है भावमय सम्बन्ध। साधक का जो भाव रहता है उसी का आपूरक इष्ट भाव भी विद्यमान रहता है। जैसे तृष्णा के साथ जल का नित्य सम्बन्ध है, यह भी उसी प्रकार की स्थिति का द्योतक है। दोनो भावों के पारस्परिक योग से ही पूर्णता प्राप्त होती है। यह पारस्परिक योग है, इष्टभाव। भाव जगत में साधक है शिशु अथवा सन्तान। उसका इष्ट है माता-पिता या इसी प्रकार भाव संश्लिष्ट भावमय सत्व। प्रत्येक भाव में इसी प्रकार की प्रक्रिया विद्यमान है। साधक एवं साध्य एक ही भूमि पर अवस्थान करते हैं।

दीक्षा द्वारा अथवा बिना दीक्षा द्वारा जिस किसी प्रकार से भगवानुग्रह क्रियाशील हो सकता है। इसकी क्रियाशीलता से कुण्डलिनी जागृत होती है और शुद्ध देह प्रकट हो उठती है। कभी इष्ट देह की प्रारम्भिक अवस्था में ही अनुभूति होने लगती है। कभी-कभी पहले शुद्ध देह की अनुभूति, तत्पश्चात् इष्ट देह का आविर्भाव होता है। सत्य यह है कि दोनों देहों का अविर्भाव होता है एक साथ। इस अभिव्यक्ति में कार्य करता है कालगत अग्रपश्चात भाव। साधक की साधना का तात्पर्य है, इस अव्यक्त भाव का व्यक्तीकरण। गुरु, दीक्षा अथवा अनुग्रह द्वारा इस आवरण को हटा देते हैं। साधारणतया साधक अपनो स्वकीय साधना द्वारा इस आवरण को हटाने में असमर्थ रहता है। मूल आवरण अपसारित होता है गुरु की कृपा से। बुद्धि का आवरण कृपा द्वारा अपसारित नहीं होता। यह उपासना द्वारा ही समाप्त होता है। इस कारण बुद्धि का आवरण अपसारित न होने तक, साधक में अनुभूति का जन्म

असम्भव है। शब्द और अर्थ, एक ही सत्ता की दो दिशायें हैं। बुद्धि और बुद्धि का विषय भी मूलतः एक ही है। जपादि द्वारा अथवा ध्यानादि द्वारा प्राप्त अग्रगामी गति से वाच्य अर्थ की दिशा अथवा ध्येय अर्थ की दिशा से आवरण हट जाता है। आवरण हटने से इष्ट अनावृत्त भाव से साधक की अन्तर्दृष्टि के सम्मुख प्रकाशित हो जाते हैं। यह है मन्त्र का देवता रूप से साक्षात्कार अथवा ध्यान के ध्येय रूप का आत्मप्रकाश।

इष्टमूर्ति (गुरुमूर्ति) सान्निध्य



इष्टमूर्ति की उपासना सन्निहित अवस्था में होती है। साधक और इष्ट की परस्पर अभिमुख अवस्था में इष्ट के साथ साधक का व्यवहार प्रारम्भ हो सकता है। आविर्भाव के पश्चात् इष्ट को सन्निहित करने के लिये चेष्टा आवश्यक है। सान्निध्य के पश्चात् पूजा का सूत्रपात होता है। व्यवधान कटने पर ही पूजा सम्भव है।

इष्ट की स्वयं में सन्निहितता की भावना आवश्यक है। चित्त की वृत्ति एकाग्र हो जाने पर, दृष्टि के सम्मुख ध्येय विषयातिरिक्त अन्य पदार्थ भासित नहीं होते। उस समय एकमात्र ध्येय विषय ही अति उज्ज्वलता से प्रकाशित हो जाता है। चतुर्दिक और किसी की सत्ता न रहने के कारण यह शून्य का ही प्रकाश है। शून्य ही आकाश रूप से वर्णित है। यह शून्य हृदयाकाश है, कारण इस स्थिति में बाह्याकाश की कोई सत्ता नहीं रहती। बाह्याकाश में वायु संस्पर्श के कारण, ध्येय वस्तु के साथ तद्भिन्न अन्य अनेक वस्तुओं का रूप मिश्रित रहता है। हृदयाकाश में ध्येय से भिन्न अन्य किसी दृश्य पदार्थ की स्थिति नहीं होती। इसका रहस्य यह है कि चित्त की एकाग्रता बिना हृदय प्रवेश असम्भव है। इस स्थिति में वायु स्तंभित रहती है। एकमात्र ध्येय वस्तु ही उज्ज्वल ज्योतिर्मय रूप से दृष्टि के साथ समसूत्रता से अवस्थित प्रतीत होती है। इसी स्वच्छ आलोक से हृदयाकाश आलोकित है। यह आकाश, वस्तुतः हृदय कमल की कर्णिका के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। "इसी आकाश में इष्ट देवता समासीन हैं,"

इस प्रकार की भावना करना आवश्यक है। आन्तरिक पूजन में प्रयोजनानुसार उनके उपविष्ट रूप की भावना की जाती है (अवस्था विशेष में अन्य प्रकार की भी भावना हो सकती है)। इस स्थिति में साधक की दृष्टि इष्ट देवता की दृष्टि के साथ युक्त रहनी चाहिये। दृष्टि से परस्पर भावानुप्रवेश सम्भव होता है। पारस्परिक दृष्टि सम्मिलन के प्रकाश में इष्ट की मुखच्छवि स्मित हास्य से सुशोभित और प्रसन्नता से युक्त रहती है। ये इष्ट महाइष्टरूप हैं। ये समग्र विश्व के इष्ट हैं। इनके रोमकूपों में अनन्त ब्रह्माण्डों की स्थिति समन्वित है, इस प्रकार की भावना करनी चाहिये। समग्र विश्व इनका देह स्वरूप है। अधोलोक (पाताल) से निम्नस्थ निरयह्रद और कालाग्नि भुवन से लेकर उर्ध्वलोक या ब्रह्मलोक पर्यन्त, यहाँ तक कि मायातीत स्तर समूहों में शिखरस्थ शिवव्योम पर्यन्त, यह जगत् इन इष्ट रूप गुरुमूर्ति के शरीर में, पादांगुष्ठ से लेकर शिखास्थान पर्यन्त विराजित है। इनकी मूर्ति विशुद्ध सत्वमय और चिदानन्द से उच्छलित मूर्ति है।

इनका मूल रूप है मातृ रूप अथवा विश्व जननी रूप से अभिन्न। ये स्वयं ही चैतन्यमयी चितिशक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति की सम्मिलित मूर्ति हैं। साधक इनकी ही सन्तान है, इनसे ही आविर्भूत है। इनकी स्थिति में ही स्थित है। इनकी ही शक्ति से साधक की शक्तिमत्ता स्फुरित होती है।

इष्टपूजा उपचार समर्पण



आविर्भाव के पश्चात् उपचार द्वारा इष्टमूर्ति की सेवा करनी चाहिये। अप्रकट देवता की पूजा नहीं होती। प्रकट होते ही पूजा की आवश्यकता है। पूजा पंचविध उपचारों से होती है। उपचार का अर्थ है, अपने स्थूल स्वरूप के बाह्य प्रतीक का निवेदन। गंध पृथ्वी तत्व का, पुष्प आकाश तत्व का, धूप वायु तत्व का द्योतक है। दीप से तेज तत्व और नैवेद्य से जल तत्व का तात्पर्य ध्वनित होता है।

इन पञ्चतत्वों से साधक की स्थूल देह गठित है। पञ्चतत्व से गठित देह एवं वस्तु में ही—"मैं" और "मेरा" भाव का उदय होता है। पञ्चोपचारार्पण से साधक की अहंता और ममता (अभिमान आलम्वन स्वरूप) सब कुछ इष्टार्पित हो जाती है। यह मात्र देह का ही नहीं, अपितु देह के साथ संसृष्ट समस्त जगत् का निवेदन है। निवेदन का फल है, इन सभी का चिदानन्दमय स्वरूप में एकीभूत होना। इस एकीकरण से चिदानन्दमय रूप की प्राप्ति होती है। इष्ट के आशीर्वाद से स्थूल सत्ता चिदानन्दमय रूप हो साधक के पास लौट आती है। इस प्रक्रिया से साधक की देह और भी अधिक शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार साधक का सूक्ष्म शरीर भी (इष्ट को अर्पित होकर) पूर्ववत् चिदानन्दमय अवस्था प्राप्त करता है। वह इष्ट देवता के आशीर्वाद से शुद्ध होकर साधक के पास लौट आता है। इस उपचार रूपी पूजा द्वारा साधक की देह एवं चित्त शुद्ध होते हैं। उनमें अलौकिक आपेक्षिक उत्कर्ष सम्पादित होता है। यह है गुरुदत्त काया में वुद्धिकल्पित आवरण का अपसारण मात्र। कारण, साधक गुरुकृपा से दीक्षाकाल में ही अपने इष्ट के अनुरूप शुद्ध एवं निर्मल देह सम्पन्न हो चुका है। अतः यह वुद्धि का आवरण भेदमात्र है। दीक्षा-काल में निर्मल देह की प्राप्ति हो जाने से इष्टसेवा सम्भव होती है।

साधक एवं इष्ट, दोनों ही शुद्ध रूप होते हैं। जैसे साधक का अभाव समाप्त होता है इष्ट द्वारा, उसी प्रकार इष्ट का भी अभाव साधक द्वारा ही पूर्ण होता है। इन दोनों का मिलन होने पर साधक की दुर्वलता कट जाती है और उसमें वलाधान सम्पादित होता है। यही इष्ट की सार्थकता है। इस स्थिति में साधक इष्ट की प्राप्ति करता है, अपने से अभिन्न रूप में। यह प्राप्ति योगात्मक प्राप्ति है। एक वार योग प्राप्ति के पश्चात् वियोग का सर्वदा के लिये अवसान हो जाता है।

इष्ट के साथ साधक का सम्वन्ध स्थापित होने में तीन अवस्थायें भाव-राज्यान्तर्गत उपलब्ध होती हैं। प्रथम अवस्था में भाव दृष्टि से साधक स्वयं को लघु और इष्ट को महान् रूप में उपलब्धि करता है। त्वं के प्रति "अहं" का यह भावविकास ही भक्ति है। "मैं तुम्हें मातृ रूप में, पिता, गुरु और प्रभु रूप में भजता हूँ"। तत्पश्चात् द्वितीयावस्था में "मैं" इतना लघु नहीं रहता और न इष्ट ही उतना महान रह जाता है। दोनों की समसत्ता उपलब्ध होती है। इस अवस्था में जिस भाव का विकास होता है, वह है सख्य, प्रीति, इत्यादि।

इस स्थिति में साधक और इष्ट के मध्य व्यवधान नहीं रहता। "मैं" प्रविष्ट होता है "तुम" में और "तुम" भी "मैं" में शान्ति लाभ करता है। अर्थात् साधक इष्ट में अनुप्रवेश करते हैं और इष्ट भी साधक में अनुप्रवेश करते हैं। इसके पश्चात् पारस्परिक अनुप्रवेश के फलस्वरूप एक उच्छ्वास जागृत होता है और एक उद्वेलित अवस्था का उदय प्रारम्भ हो जाता है। अब दोनों का मिलन एक फल में प्रसूत होता है। यह मिलन फल है, एक रूपमयी सत्ता। यह रूप "मैं" और "तुम" के मिलन फल से प्रसूत है, अतएव इसका प्रकाशन होता है ' मैं" और "तुम" से निम्नस्तरीय क्षेत्र में। यह भाव प्रकाशित होता है वात्सल्य रूप में। कोई-कोई, इसे करुणा भी कहते हैं। गुरु, पिता-माता, स्वामी, प्रभृति जिस स्नेह दृष्टि से सन्तान, शिष्य अथवा आश्रित को देखते हैं, यह वही दृष्टि है। इसके फलस्वरूप इस वात्सल्य का पात्र विश्वरूप सन्तान, शिष्य, या आश्रित भीतर प्रवेश करता है। इस स्थिति में "मैं" अब खण्ड "मैं" नहीं रह जाता।

यह खण्ड "मैं" सब की महासमष्टि रूप "महा आमित्व रूप मैं" का रूप धारण करता है। इससे पूर्व जो सन्तान था या मातृस्नेह का अधिकारी हुआ था, वह स्वयं ही मातृरूप में परिणत होने लगता है। इस मातृरूप के बाहर कुछ भी नहीं है। सभी इसके गर्भान्तर्गत हैं। यही है, प्रकृत महाप्रलय की दशा। इस अवस्था में अनन्त भी एक के गर्भ में प्रतीत होता है। इस गर्भस्थ आभास को अपनी सत्ता के साथ अभेदरूप से रख कर 'माँ" इसका लालन-पालन करती है। किसी महाक्षण में यह गर्भगत आभास निराभास महाचैतन्य रूप में स्थिति लाभ करता है। अर्थात् माँ सन्तान को प्राप्त करने के पश्चात् पिता (विश्वगुरु) परमशिव के स्थान पर उपविष्ट होती हैं।

संतान भाव में समस्त विश्व एवं अनन्त, अन्तर्मुक्त रहता है। मातृभाव में समस्त शक्ति एवं समस्त विश्व उनमें निहित हो जाता है। इसके पश्चात् जब संतान एवं माँ दोनों ही नहीं हैं, तब दोनों मूल स्थान में या विश्वपिता में (परमगुरु स्थान में) एकीभूत रहते हैं। भावराज्य की स्थिति यहाँ तक है। महाभाव भावराज्य की परिसमाप्ति है। इसके पश्चात् भावातीत परावस्था का उदय होता है।

ऊर्ध्वपथ की यात्रा



बाह्य इष्ट की पूजा का अवसान विन्दु है, साष्टांग प्रणाम। यह है वाह्य साकार भाव का अवसान और निराकार में प्रवेश। इस स्थिति में साधक और इष्ट परस्पर अभिन्नतया प्रतिष्ठापित रहते हैं। इस अभिन्न भाव में निर्गुण विश्वगुरु भाव का सर्वप्रथम परिस्फुटन होता है। साष्टांग प्रणाम के पश्चात् प्रकृत उपासना प्रारम्भ होती है। मूलाधार से आज्ञाचक्र पर्यन्त चक्रमय और कलामय अवस्था रहती है, आन्तर इष्ट पूजा का यही क्षेत्र है। आज्ञाचक्र भेदन के साथ-साथ निष्कल अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। एकाग्र भूमि से निरोध भूमि में प्रवेश, इसी का नामान्तर है। यद्यपि यहाँ तक कलामय दशा का अवसान हो जाता है, तथापि उसका किंचित परिमाण में संस्कार अंकित रह जाता है। अतएव यह उर्ध्वपथ पूर्णतया विशुद्ध निष्कल पथ नहीं है। यहाँ भी दोनों का मिश्रण है। एकाग्र भूमि के पश्चात निरोध भूमि का सूत्रपात निष्कल का उन्मेष होने के साथ-साथ अनुभूति में आने लगता है।

एकाग्र भूमि में (भ्रूमध्य में) समग्र मन की उपलब्धि होती है। यह विकीर्ण मन नहीं अपितु संहृत मन है। अब विक्षिप्त भाव शेष नहीं रहता और एकाग्र भाव की उपलब्धि होने लगती है। ध्येयवस्तु की आकृति एवं भाव को लेकर मन ही प्रकाशित होता है यह प्रकाश है, ज्ञान या प्रज्ञा का स्वरूप। यह भी मन की ही वृत्ति रूप से परिणणित है। मन की वृत्ति होने पर भी मन का आलम्बन एकीकृत रहने के कारण उसमें विक्षेप परिलक्षित नहीं होता। जैसे अनन्त महाकाश में एक ही सूर्य दृष्ट होता है, यह भी वैसी ही अनुभूति कही जाती है। गुरुशक्ति के प्रभाव से, यह अवस्था भी (आज्ञाचक्र के भेद के साथ-साथ) अतिक्रान्त हो जाती है। तत्पश्चात् एकमात्र मन भङ्ग होकर अर्ध भाग में परिणत हो जाता है। यह है, मन से अतीत भूमि में संक्रमण की प्रथम सूचना। मन्त्र एवं मन अभिन्न हैं। मन्त्र एवं इष्टदेवता भी अभिन्न हैं। अब एकाग्र मन भङ्ग होकर भग्नांश में परिणत होता है, अर्थात् मन का विकास सूक्ष्म से सूक्ष्मतर क्रम की ओर गतिशील होने लगता है।

इस स्थिति में इष्ट देवता के स्वरूप से निर्गुण गुरु स्वरूप का प्रकाश दृष्टिगत होने का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इष्ट देवता गुरु से अभिन्न हैं। सगुण साकार में निर्गुण निराकार अवस्था स्फुट होने लगती है। इस अवस्था को जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से अतीत तुरीयावस्था की सूचना कहते हैं। यह काल से कालातीत भूमि में संचार की द्योतिका स्थिति भी है। भ्रूमध्यस्थ आज्ञाचक्र के मध्यविन्दु में, समग्र मन में, काल का पूर्ण प्रकाश होता है। बाह्य जगत् में प्रतीयमान अतीत अनागत वर्तमान रूप काल भी मन एकाग्र होने पर मात्र वर्तमान रूपेण प्रकाशित होता है। अतीत और अनागत की कोई पृथक् सत्ता शेष नहीं रहती। अनिरूद्ध प्रकाश वर्तमान में, अपनी वर्तमानमयी सत्ता के साथ प्रकाशित होता है। काल-देश भी पृथक्वत् नहीं रह जाता। देशगत् अनन्त व्यवधान, दूर-दूरान्तर, भाव, समाप्त हो जाता है। आज्ञा की अन्तस्थ प्रज्ञा के आलोक में अनन्त देश और अनन्त काल, नित्यवर्तमान में सन्निहित रूप से, प्रकाशित होते हैं।

इस स्तर में इष्ट भी मात्र विश्व का प्रतीक नहीं रह जाता। अपितु वह विश्वाधारभूत अनन्त देश एवं अनन्त काल का प्रतीक हो जाता है। अब एक प्रकार से साधक विश्व केन्द्र में उपस्थित है। आज्ञाचक्र का मध्यविन्दु जगत् का केन्द्र है। कारण यहीं से विश्व का नियंत्रण होता है। इष्ट पूजा की परिसमाप्ति हो जाने पर इस विश्व केन्द्र में इष्ट सत्ता बल लाभ कर स्थिति प्राप्त करती है। यह है जागतिक ऐश्वर्य का परमाश्रय स्थल।

उच्चस्थिति होने पर भी, यह यात्रा का अवसान नहीं है। विश्व का अतिक्रमण करना ही होगा। उद्देश्य है, भव की एकमात्रा को भङ्ग करने के पश्चात् अर्धमात्र में क्रम प्रवेश। गुरु, स्वरूपतः निर्गुण निराकार है। अथच इष्ट संयोग से, अभिन्न दृष्टि से, वे ही हैं सगुण एवं साकार। सर्वप्रथम जिन गुरु का दर्शन होता है, वह है सगुण साकार गुरु का दर्शन। तत्पश्चात् गुरु कृपालब्ध मन्त्र या इष्ट का स्फुरण करना आवश्यक कर्त्तव्य है। फलतः मूढ़क्षिप्त एवं विक्षिप्त अवस्था से मन की एकाग्रावस्था में उन्नति होती है। साथ ही प्रज्ञालोक का उद्भासन होता है। यही है इष्ट साक्षात्कार। इस अवस्था में मन्त्र दर्शन, मन्त्र एवं देवता से अभिन्नता और मन की एकाग्रता की अनुभूति होती है। तत्पश्चात् यात्रा प्रारम्भ होती है निर्गुण गुरुस्वरूप की ओर। यह षट्चक्रातीत पथ है। दिव्य अनुभूति का पथ है। ऊर्ध्व दृष्टि से शुद्ध चैतन्य

का आवरक है, मन। जागतिक दृष्टि से मन ही है चैतन्य का प्रकाशक। कारण यह है कि जागतिक दृष्टि से मन में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही है वृत्ति ज्ञान का आश्रय। विक्षिप्त अवस्था में तथा एकाग्र अवस्था में यही नियमानुवर्त्तिता प्रयुक्त होती है। विशुद्ध चैतन्यानुभूति है, दिव्य अनुभूति। इसके लिये मन की परिसीमा को पार करना पड़ता है। अब दो अवस्थाएं दृष्टिगोचर होती हैं। मनको भग्न करते करते सूक्ष्मातिसूक्ष्म करना पड़ता है। जिस परिमाण में मन की मात्रा कम होती जाती है, उसी परिमाण में, उसी अनुपात में दिव्य चैतन्य की मात्रा अधिकाधिक होती जाती है।

द्वितीय साष्टांग इसी का नामान्तर है। इसके पश्चात् जो स्थिति प्राप्त होती है, वही विन्दु स्थिति कही जाती है। विन्दु स्थिति में मन की मात्रा होती है—अर्धमात्रा। अर्धमात्र मन में विशुद्ध चैतन्य का प्रकाश (इष्ट साक्षात्कार तथा एकाग्रभूमि से) अधिक होता है।

यह मार्ग है नादमय। अर्धमात्रा या विन्दु भूमि से ही इसका सूत्रपात होता है। भ्रूमध्य से उर्ध्वंदिक् पर्यन्त यह मार्ग प्रसारित है। यह पथ अग्रसर है, उन्मनी पर्यन्त। स्थूल काल इस साकार जगत पर आच्छन्न है। विक्षिप्त एवं एकाग्र अवस्था स्थूल काल के साथ संसृष्ट रहती है। निरोध मार्ग में स्थूल काल कार्यशील नहीं रहता, अपितु, वहां सूक्ष्म काल की कार्यशीलता व्याप्त रहती है। जहाँ मन है, वहीं काल है। मन भग्न होने की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के साथ, तदनुकूल परिमाण में काल भी सूक्ष्म होता जाता है। नाद की क्रमिक अग्रगति से यह प्रक्रिया घटित होती है। नव नाद पर्यन्त (९ स्तर पर्यन्त) इसी प्रकार की प्रक्रिया चलती रहती है। उन्मनी पद पर पहुंचने के पश्चात् काल शेष नहीं रहता। समना पर्यन्त ही काल के सूक्ष्मतम परमाणु परिलक्षित होते हैं। एकाग्र भूमि में काल की मात्रा है —१। यह उसके ५१२ भाग का एक भाग है। वस्तुतः मन, काल, नाद, एक साथ ही शेष होते हैं। यह साध्य होता है, गुरु की अहैतुकी महाकृपा से। वास्तव में ये निःशेष नहीं होते, इन्हें निःशेष करना होता है। जहाँ मन का बल समाप्तप्राय है, वहीं मन भङ्ग करने की प्रक्रिया की परिसमाप्ति भी है। वैसे भग्न करने की यह प्रक्रिया अनन्त काल तक भी चल सकती है। इसका कहीं अवसान भी नहीं दीखता। यह है, चिदानन्दमयी योगमाया का राज्य, जो नित्य चिदालोक से आलोकित है। इस भूमि में भग्नाकार मन का किंचित आभास शेष रह जाता

है। उज्ज्वल चैतन्य प्रकाशमान होता है। यह अनन्त है--पूर्णता की ओर गतिशील—किन्तु पूर्ण नहीं है।

श्री गुरु का परमस्वरूप निर्गुण एवं निष्कल है



योगमाया का अधिकार है, शुद्ध मनोराज्य पर्यन्त। उन्मनी में विशुद्ध निष्कल पद प्रकाशित रहता है। यह है श्री गुरु का परमस्वरूप, निर्गुण एवं निराकार। यह मन से अतीत स्थिति है। इसी भूमिका में आत्मसाक्षात्कार-होता है। गुरु स्थान पर्यन्त गति न होने से, आत्मा का संकेत कौन देगा? यहाँ भी साष्टांग प्रणाम आवश्यक है। यह है, तृतीय और चरम प्रणाम इसके पश्चात् स्वरूपावस्थान हो जाता है।

आत्मस्वरूप (अखण्ड, पूर्ण सत्ता)



आत्मा ही आत्मस्वरूप एवं अखण्ड पूर्ण सत्ता है। वह सगुण साकार तथा निर्गुण निराकार दोनों से अतीत है। साथ ही यह है सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, सक्रिय-निष्क्रिय एवं सत्-असत्। एक साथ सर्वमय।

जब तक पथ का आश्रय है, तब तक यह सब भावनामय क्रीड़ा होती रहती है। भावना से अतीत स्थिति को बुद्धि द्वारा पाना असम्भव है। अधरा को कौन पकड़ेगा, यदि वे स्वयं दया न करे, सर्वत्र एक क्रम की व्याप्ति रहती है। क्रम की व्याप्ति रहने पर भी, वास्तव में सब कुछ क्रम बन्धन मुक्त है, कारण किसी भी क्षण में वह अक्रम सत्ता प्रस्फुटित हो सकती है।

निष्कल की प्रथम सूचना है, विन्दु में। पूर्ण निष्कल = महाविन्दु। यह है, अखण्ड का आसन। कारण अखण्ड ही सर्वमय और पूर्णसत्ता है।

आत्मदर्शन



सर्वप्रथम ज्योतिदर्शन का अभ्यास आवश्यक है। यह ज्योति शुद्ध ज्योति है, सांसारिक प्रकाश से सर्वथा भिन्न है। नवोदित सूर्य अथवा अन्य प्रकाश का अनुभव अपने ललाटस्थ प्रदेश में आवश्यक है। अखण्डमण्डलाकार, स्निग्ध शुद्ध ज्योति की भ्रूमध्य में चिन्तना आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि यह कल्पित-रूप से कल्पित ज्योति का चिन्तनमात्र है। सिद्धगुरु के शक्तिपात से, संयुक्त मंत्र की क्रिया से अथवा ध्यान प्रभाव से स्वतः स्फूर्त ज्योति का चिन्तन उत्तम साधन के रूप में परिगणित है। इसके अभाव में कल्पना द्वारा ज्योति चिन्तना करनी चाहिए। षट्चक्र से उर्ध्व में उठते ही भ्रूमध्यस्थ विशुद्ध ज्योतित स्थिति प्राप्त होती है। यह एकाग्र भूमि है, यह उपासना का शेष लक्ष्य भी है। इस स्थिति में ज्ञानोन्मेष की सूचना मिलती है। यह प्रज्ञाज्योति दिव्य चक्षु की संज्ञा से अभिहित है। स्वभाव से स्वतः स्फूर्त ज्योति को सर्वोत्तम ज्योति कहा जाता है। जप के द्वारा तथा मनन के द्वारा अन्तराकाश में इस ज्योति का उदय होता है। इस स्थिति में वैखरीवाक् नाद भूमि में विकास प्राप्त कर प्रकाशरूप में परिणत होती है। अन्तराकाश चिदालोक से आलोकित हो उठता है। इसे कुल कुण्डलिनी की स्फुरणमयी स्थिति भी कहते है।

उपरोक्त ज्योति की प्राप्ति अत्यावश्यक है। यह भ्रूमध्य में आयत्त होती है। स्वाभाविक उपाय से समुदित न होने पर कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। कल्पना से भी फल की प्राप्ति होती है। ज्योतिदर्शन प्राथमिक अवस्था है। जब उर्ध्वसत्ता ज्योति के साथ अंगीभूत हो जाती है, इस स्थिति में क्रमशः चिदाकाश प्रकाशित होने लगता है। जो जप द्वारा ज्योति की प्राप्ति नहीं करते, वे मनन (नवोदित सूर्य ध्यान) के द्वारा इसे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। भ्रूमध्य में ज्योति की प्राप्ति का अर्थ है—अत्युच्च स्थिति प्राप्ति। इस अवस्था में वैखरी वाणी (अ-आ इत्यादि

शब्द समूह) की स्थिति निःशेष हो जाती है, अतः देहात्मबोध भी समाप्त हो जाता है। व्यावहारिक स्थिति में देहात्मबोध का आश्रय लेकर समस्त कार्य होते हैं। भ्रूमध्य में ज्योति की प्रतिष्ठा होते ही देहात्मबोध की समाप्ति के साथ-साथ, इड़ा-पिंगला की क्रिया सरलभाव में परिणत हो जाती है। एकमात्र सुषुम्ना की गति उर्ध्वगामिनी होने लगती है। द्रष्टा (साधक) देह को भूल जाता है। वह ज्योति में अपने स्वरूप को देखता है। वह उपलब्ध करता है कि यही मेरा स्वरूप है। ज्योति में अपने शरीर से लेकर समस्त शरीर का प्रकाशन होता है और यही है आत्म-दर्शन।

इसके पश्चात् इस स्वरूप में अन्तः प्रवेश होता है। इस अवस्था में समस्त विश्व साधक के समक्ष स्फुरित होने लगता है। समस्त विश्व अनन्तरूप सम्पन्न होने पर भी साकार है। आत्मदर्शन में विश्वदर्शन की पूर्णता सन्निहित है।

विश्वदर्शन के पश्चात् उच्च साधक विश्वातीत अवस्था में उपनीत होते हैं। इस स्थिति में विश्वदर्शन भी निःशेष हो जाता है। इस भूमि में जो दर्शन होता है, 'वह है निजस्वरूप दर्शन।" पूर्ण स्वरूप दर्शन का अर्थ है, स्वयं की प्रकाश स्वरूपता। अब साकार और निराकार का भेद अस्तमित हो जाता है। इस दर्शन का तात्पर्य है, स्वयं प्रकाश चैतन्य का आत्मसाक्षात्कार। यह कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यह है स्वयं की स्वयं प्रकाशावस्था। इस ब्रह्मस्वरूप का कोई वर्णन सम्भव नहीं।

इसे सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप कहते हैं। अतएव पूर्ण आत्मदर्शन को साकार एवं निराकार, दोनों कहा जा सकता है। दिव्यचक्षु से (भ्रूमध्यस्थ चैतन्य ज्योति में) समग्र विश्व का निजान्तर्गत दर्शन संभावित है। यह स्वयं-प्रकाश ब्रह्मसाक्षात्कार से पहले की अवस्था कही जाती है। इस स्थिति में साधक को साधारण निजबोध नहीं रहता। स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप में अनन्त देशकाल एवं शक्ति की क्रिया विद्यमान रहती है। दूसरी ओर शक्ति का संकोच करने पर कुछ भी नहीं रहता, मात्र एक स्वयंप्रकाश सत्ता अवशिष्ठ रह जाती है। यह है आत्मा, ब्रह्म, परमगुरु। इस भूमि में साकार-निराकार का प्रश्न ही नहीं उठता, कारण यह कल्पनातीत स्थिति है।

कुल-कुण्डलिनी तत्व



कुण्डलिनी शक्ति है। इसका नामान्तर है विन्दु। इसे चिदाकाश भी कहते हैं। यह परमेश्वर की महामाया रूपी शक्ति है। परमेश्वर (परमशिव) चित्स्वरूप हैं। इनकी दो शक्तियां हैं। प्रथम शक्ति का नाम है चिद्रूपी शक्ति, द्वितीय है, अचिद्रूपी शक्ति। चिद्रूपी शक्ति को चित्शक्ति कहते हैं। यह परमेश्वर से अभिन्न है। इसी का नाम है स्वरूप शक्ति।

विन्दुरूपी शक्ति भी परमेश्वर की शक्ति है, तथापि यह अचित् शक्ति है। यह विन्दुशक्ति माया के मल से मलिन नहीं है। विन्दुशक्ति ही परिग्रह शक्ति है। माया एवं महामाया में कुछ भेद है। माया है मलिन जगत् की उपादान स्वरूपा। महामाया अथवा विन्दु का नामान्तर है कुण्डलिनी शक्ति। कुण्डलिनी शुद्ध माया की उपादान स्वरूपा है। परमेश्वर के अन्तःसंकल्प से शुद्ध जगत् आविर्भूत होता है। शुद्ध जगत् जड़ है, अशुद्ध जगत् भी जड़ ही है, किन्तु शुद्ध जगत् पर सविकल्प ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता। माया रूपी अशुद्ध शक्ति पर सविकल्प ज्ञान का प्रभाव रहता है। परमेश्वर के निर्विकल्प ज्ञान के प्रभाव-वशात् कुण्डलिनी परिणाम प्राप्त करती है। माया पर परमेश्वर के निर्विकल्प ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता। माया, ईश्वराधीन है। यह मायिक जगत् की उपादान स्वरूपा है। ईश्वरतत्व अविकल्प ज्ञान के द्वारा माया को क्षुब्ध करते हैं, माया क्षुब्ध होकर मायिक जगत् के कार्यरूप में परिणत होती है।

सृष्टि के आदि में परमेश्वर के ज्ञान के प्रभाव से विन्दु क्षुब्ध होकर जगत के आविर्भाव का सूचक होता है। विन्दु परिग्रहशक्ति है, अतः यह उपादान स्वरूप है। चित्शक्ति कर्मवाहिनी शक्ति है। यह चिदात्मशक्ति से अभिन्न है। शुद्ध जगत् के आदि विन्दु से ऊपर तक शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शिव एवं शक्ति की स्थिति है। विन्दु (कुण्डलिनी) शुद्ध शक्ति है। यह निर्मल देह का उपादान हैं। माया मलिन देह की उपादान स्वरूपा है। शुद्ध देह का नामान्तर है वैन्दव देह। परमेश्वरानुग्रह से विन्दु ज्योतिस्वरूप देहाकृति में परिणत होता है। इसका नाम ज्ञानदेह भी है। यह परमेश्वर की कृपा से सम्भावित है। कुण्ड-

लिनी शक्ति अथवा चिदाकाश—महामाया का नामान्तर है। दीक्षा प्राप्ति के अनन्तर शिष्य वैन्दव देह की प्राप्ति करता है। यह दो स्थितियों में सम्भव है। प्रथमतः महाप्रलय काल में जगत ध्वंस होने पर, मलपाक पूर्णतः होने पर, परमेश्वर की कृपा से वैन्दव देह का संयुक्तीकरण होता है। मूलाधार चक्र की कमल रूप में जागृति होनेपर उसमें ४ दलों की उपलब्धि होती है। उसके ऊपर स्वाधिष्ठान में ६ मातृकाओं का विकास परिलक्षित होता है। मणिपुर में १० मातृकाओं का एवं अनाहत में द्वादशदल रूपी १२ मातृकाओं का विकास अनुभूत होता है। विशुद्ध चक्र में १६ मातृकायें एवं आज्ञा चक्र में २ मातृकायें कमल दल रूप में विकसित होती हैं। समष्टिगत ये ५० मातृकायें हैं।

आज्ञाचक्र के द्विदल में दो वर्णों की स्थिति है। इसके अतिरिक्त उसके इस पार "ह" कार है और उस पार (नीचे) "स" कार विद्यमान है। "हुं" कार विन्दुयुक्त है। मूलाधारस्थ चतुर्दल कमल के सर्वनिम्न प्रदेश में विसर्गयुक्त "सः" कार अवस्थित है, योगी को यह "सोऽहं" रूपेण अनुभूत होता है। अजपा सिद्ध इस रहस्य को जानते हैं। शरीर में ७२००० नाड़ियों की स्थिति है। मुख्य नाड़ियाँ ३ हैं—इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा। इड़ा वाममार्गिणी है और पिंगला दक्षिणमार्गिणी। इनकी गति सरल नहीं होती। इन्हीं दोनों का आश्रय लेकर श्वास-प्रश्वास चलती है। यह देह कुण्डलिनी से प्रसृत है। मायिक देह में मल-पाक होने के पश्चात् वैन्दव देह की प्राप्ति होती है।

प्रलय कालीन एवं सृष्टि कालीन स्थिति में भेद विद्यमान है। प्रलय काल में परमेश्वर की कृपा से मलपाक होने पर एक मात्र वैन्दव देह की ही प्राप्ति होती है, किन्तु सृष्टि काल में मलपाक होने से मायिक देह के साथ-साथ वैन्दव शरीर प्राप्त होता है। दोनों परस्पर संयुक्त हो जाते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में सुप्तवत् स्थित रहती है। यह क्षुब्ध होकर शुद्ध शब्द का आविर्भाव करती है। यह शुद्ध शब्द ही नाद है। मूलाधार से आज्ञाचक्र पर्यन्त ६ चक्रों की स्थिति है। मूलाधारस्थ चक्र में ४ मातृकायें विद्यमान हैं। अतएव मूलाधार को चतुर्दल कमल कहते हैं। कमल एवं चक्र में भेद है। जब तक कुण्डलिनी सुप्त रहती है, तब तक इन्हें चक्र कहते हैं। कुण्डलिनी जागृत होते ही इन्हें 'कमल' की संज्ञा दी जाती है। चक्रावस्था में स्थित मातृकायें कमलावस्था में कमल के दल का रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार मनुष्य शरीर में सुषुम्णा नाड़ी से सम्बन्धयुक्त ६ चक्र

अवस्थित हैं। इनमें से ५ चक्र पञ्चभूतों से सम्वन्धित हैं। इनसे ऊपर का चक्र चित्त के साथ सम्वन्धयुक्त है (अर्थात् मन-वुद्धि-चित्त-अहंकार), वक्रगति से प्रवहमान हैं। इन दोनों के मध्यस्थ सरलगतिमयी सुषुम्णा की स्थिति जाननी चाहिये। इसके पश्चात् इसका सूक्ष्मरूप क्रमशः वज्रनाड़ी, तत्पश्चात् चित्रिणी नाड़ी, सर्वान्त में व्रह्मनाड़ी (अखण्ड नाड़ी) है।

महाशक्ति का जागरण एकमात्र सुषुम्णा प्रवेश से ही होता है। सुषुम्णा में प्रवेश करते ही इड़ा-पिंगला की आवर्त्तगति कट जाती है। आवर्त्त काल का सूचक है। सुषुम्णा काल का नाश करती है। योगी का चरमलक्ष्य है सुषुम्णा प्रवेश के पश्चात् व्रह्मनाड़ी में अवस्थान। वेदान्तोक्त आनन्दमय कोष इसी से संयुक्त है।

इसमें प्रवेश का चक्र है। प्रत्येक चक्र के ३ अंग होते हैं। मातृका या वर्णमाला, नाद और विन्दु-ये चक्र के ३ अंग के रूप में विदित हैं। मातृका को व्यवहार भूमि में कला कहा जाता है। सर्वप्रथम मूलाधार में प्रवेश किया जाता है। इसके द्वार को उद्घाटित करना होता है। यह द्वार सर्वदा आवरित रहता है। तत्पश्चात् विशुद्ध शक्ति के परस्पर संघर्षण से साम्यावस्था की सृष्टि होती है और उस समय नीचे से चिद् अग्नि उद्दीपित होती है। विरूद्ध शक्तियों के स्तिमित होने पर एवं प्राण अपान को साम्यावस्था प्राप्त होने पर, इस साम्य से (समान से) जिस अग्नि का विकास होता है वह उदान है। यह उदान जब व्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने लगता है उस समय इसे व्यान की संज्ञा से सम्वोधित करते हैं।

इस चिदग्नि द्वारा मूलाधार चक्र के प्राचीर को छिन्न करना (भग्न करना) होता है। मूलाधारस्थ प्राचीर मातृकामय है। इस प्राचीर के भग्न होते ही मूलाधार का द्वार उद्घाटित हो जाता है। यहाँ पर ४ मातृकायें स्थित हैं। प्रत्येक मातृका चिदाग्नि के संस्पर्श से गल जाती है। उसका वर्णभाव समाप्त हो जाता है। वहाँ नाद भाव का प्राकट्य होता है। नाद भाव प्रकट होते ही उर्ध्वमुखी गति प्रारम्भ होती है, मूलाधार की उर्ध्वगति हो जाती है। मूलाधार का अन्य वर्णों के साथ (अन्य चक्र में स्थित वर्णों के साथ) कोई सम्वन्ध नहीं है। नाद प्रकट होने पर सम्वन्ध प्रारम्भ होता है।

सुषुम्णा का एक वैशिष्ट्य है। वह सर्वदा उर्ध्वगति से परिचालित है। इस प्रकार क्रमशः चक्र भेद होता है और विन्दु में परिणति प्राप्त होती है (विन्दु

सुषुम्णा नाड़ी का एक स्टेशन है)। आज्ञा चक्र ही एकमात्र विन्दुस्थान है। यहाँ मातृका परिसमाप्त है। यहाँ शिव नेत्र अवस्थित हैं। ज्ञान चक्षु यहीं खुलते हैं। यहाँ से दो मार्गों का संधान प्राप्त होता है। प्रथम सहस्त्रदल मार्ग (परमेश्वर का मार्ग), द्वितीय है ब्रह्मरन्ध्र मार्ग (ब्रह्ममार्ग)।

नेत्र



दर्शन की क्रिया चक्षु से होती है। ज्ञानचक्षु एवं चर्मचक्षु के मध्य अनेक भेद विद्यमान हैं। चर्मचक्षु को खोलना और बन्द करना सम्भव है, किन्तु ज्ञानचक्षु एक बार खुलने पर सदा खुले रह जाते हैं। ज्ञानचक्षु खुलने पर इच्छा उसकी सहकारिणी बन जाती है। इच्छा की साम्यावस्था ही पूर्ण ज्ञान है। ज्ञान का उदय होने मात्र से ज्ञान में पूर्णता स्थापन असम्भव कार्य है। वहाँ इच्छा अवस्थित रहती है। ज्ञानचक्षु खुल जाने की अवस्था में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है वह ज्ञेय सामान्य शुद्ध सत्व है। उसकी कोई आकृति नहीं होती। इच्छा उसकी परिणति अपने विषयानुरूप कर लेती है। यदि राम को देखने की इच्छा हो, उस स्थिति में इच्छा ही उस शुद्ध सत्व को राम रूप में परिणत कर लेती है। इस रूप दर्शन द्वारा इच्छा निवृत्त और तृप्त हो जाती है। तत्पश्चात् पुनः शुद्धसत्व अवशिष्ट रह जाता है। समस्त आकार समूह इस शुद्धसत्व के ही आकार हैं, इच्छा उनका कारण है।

चर्मचक्षु की किरणें एक ही ओर प्रसारित होती हैं। ज्ञानचक्षु की रश्मि सर्वत्र प्रसारित होती है। सूक्ष्म देहान्तर्गत ज्ञानोदय होने की स्थिति में वह उज्ज्वल होकर चतुर्दिक प्रसारित होती है। उसके लिये दर्शनीय ज्ञेयवस्तु सम्मुखीन है। यह रश्मि स्थूल नेत्र का विषय नहीं है। इसी कारण ज्ञानीगण अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी लोक को देख सकते हैं परन्तु वे लोक ज्ञानी को नहीं देख सकते।

जब ज्ञानीगण किसी का दर्शन करने की इच्छा रखते हैं, उस स्थिति में वे भौतिक स्तर में उतर आते हैं। भौतिक स्तर में आगमन होने पर भी प्रभामण्डल

की अधिकता रहती है। दर्शन करने वाले उनके रूप का स्थूलतः दर्शन नहीं पाते। वे मात्र ज्योति देखने में समर्थ होते हैं। उन्हें दीर्घकाल पर्यन्त अभ्यास करने के पश्चात् स्थूल रूप का दर्शन प्राप्त होता है।

जब ज्ञानीगण स्थूल (घनीभूत) रूप ग्रहण कर लेते हैं, उस स्थिति में उनकी ज्योतित आकृति न देखकर सामान्य लोग स्थूल को ही देखने में समर्थ होते हैं। अतः जब साधक को ज्योतिदर्शन होने लगता है, उस समय यह जान लेना चाहिये कि देवता अथवा सिद्ध केवल मात्र साधक के निकट उपस्थित ही नहीं हैं, अपितु दर्शन भी देना चाहते हैं। यदि ज्ञानी देवता अथवा सिद्ध की यह इच्छा नहीं होती, उस अवस्था में उनकी ज्योति भौतिक स्तर पर संचरण नहीं करती और न साधक को दृश्यमान ही होती। शुद्ध ज्ञान भौतिक नेत्रों का विषय नहीं है।

प्रत्याहार



नेत्रों के बाहर पलक की स्थिति है। सब इन्द्रियों में तथा रंध्रों में भी एक प्रकार से पलक अथवा परदे की उपलब्धि होती है। इसे बन्द करने के पश्चात् बाह्य रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गंधादिक भीतर प्रवेश करने में असमर्थ रहते हैं। सभी द्वारों को रुद्ध करने के उपरान्त इन्द्रियगोचर जगत् ज्ञानक्षेत्र से तिरोहित हो जाता है। इसके पश्चात् चारो ओर एक अन्धकाराच्छन्न तमोमय आकाश की अनुभूति होती है। यह है प्रत्याहार का पूर्वाभास। कारण इस स्थिति में भी अन्तः शक्ति की प्रवणता बाह्य दिशाओं की ओर प्रसारित रहती है। इतने पर भी द्वार अवरुद्ध रहने के कारण बाह्यप्रदेश के साथ योग नहीं होता।

अब शक्ति समूह की अन्तर्मुखता अपेक्षित होती है। शक्ति की रश्मि एक स्थान पर एकीभूत होने लगती है। यही है वास्तविक प्रत्याहार। शक्ति समूह द्वाररोध के कारण अवरुद्ध नहीं होते, अपितु उनकी बाह्य प्रवणता एवं गति का वेग समाप्त होने लगता है।

ध्यान एवं ध्येय वस्तु (सम्प्रज्ञात समाधि)



अव अन्धकाराच्छन्न एवं तमोमय आकाश में सूर्योदय सुस्पष्टतया अनुभूत होता है। अन्तराकाश में आलोक का प्रस्फुटन ही अन्तरंग योग अथवा ध्यान का पूर्वाभास है। इस स्थिति में समस्त आकाश आलोकित नहीं होता। खण्ड-रूपेण ज्योति का अथवा ज्योतिर्मय रूप का आंशिक आविर्भाव अनुभूत होने लगता है। क्षेत्रीय तथा चतुर्दिक विस्तीर्ण तमोराशि इस ज्योति में विलीन हो जाती है। मात्र ज्योति अथवा ज्योतिर्मय रूप ही परिदृश्यमान रह जाता है। यह दृश्यभाव में रूप की स्थिति है। इसके अतिरिक्त अन्तराकाश आलोक सम्पन्न होता है और उसमें एक रूप का स्फुरण हो जाने पर चतुर्दिक व्यापी आलोक भी उसी रूप में मिश्रित होने लगता है।

यही ध्येय वस्तु है। यहाँ चित्त भी एकाग्र है। यही स्थायी रूप में सम्प्रज्ञात समाधि भी कही जाती है। ध्येय भी मन का ही आकार है। जव इसका विलीनी-करण सम्पन्न होता है, तभी चैतन्य समाधि का उदय संभव है।

यह ज्योति अथवा रूप कहाँ से प्रकट होता है? यह किसका परिणाम है? इसकी विवेचना करना सम्भव नहीं। वह शब्दातीत विषय है। संक्षेप में यह ज्योति ही वीज अथवा मंत्र है। यही शब्द भी है। यह चिदाकाश की एक तरंग है। इसके आश्रयण से मन की निवृत्ति हो जाती है।

ज्योति



आँखें खुलने पर बाहर के प्रकाश से सब कुछ देखा जाता है। यह बाह्य आकाश अन्धकाराच्छन्न तथा तमोमय होते हुये भी आलोकित सा लगता है।

यह वाह्य आकाश भूताकाश है, भौतिक आलोक से आलोकित है। प्रकाश-विहीन अन्धकाराच्छन्न रजनी में कुछ भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर नहीं होता। देखने के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता है। प्रकाश रहते हुये भी यदि नेत्र न हों, उस स्थिति में देख सकना शक्य नहीं है। इसे देहाभिमान की अवस्था कहते हैं। इसे घेर कर एक प्रकार का अज्ञान विराजित है। यह अज्ञान विक्षेप भी है। एकाग्रता से इसका भेदन किया जाता है। इसके पश्चात् देहाभिमान नहीं रह जाता। पाँचों इन्द्रियाँ अन्तराकाश में विलीन हो जाती हैं। आँखें वन्द करने पर अभी जो कुछ दीखता है, वह भूताकाश है। मात्र एक इन्द्रिय का रोधन (अर्थात् मात्र आँखें वन्द हों) तथा अन्य इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हों, वैसी परिस्थिति में सम्यक् प्रकाश (ज्ञान) की प्राप्ति नहीं होती। कारण, अन्य इन्द्रियाँ वाह्य आकाश के आकर्षण से कर्षित होती रहती हैं। सब इन्द्रियों का रोध होने पर ही, आँखें वन्द करने पर अन्तराकाश आलोकित होने लगता है। तदनन्तर अन्तराकाश में सब कुछ अनुभूत हो सकना सम्भव है। जव ज्योति आवृत्त रहती है, तव सब कुछ देख सकना असम्भव है।

प्रकाश अथवा ज्योति की जो कुछ भी उपलब्धि वाह्य जगत् में हो रही है, वह सव इसी ज्योति का आभास मात्र हैं। इन्द्रियों की चेतना भी इसी का आभास है। जहाँ कही, जो कुछ भी भासित होता है, वह सब इसी ज्योति का परिणाम है। भासित होते रहने पर भी यह ज्योति परिलाक्षित नहीं होती है। देहाभिमान की सम्यक् निवृत्ति भी सम्यक् प्रकार से नहीं होती। सर्वत्र अभिमान का आभास शेष रह जाता है। जैसे अन्तर्दृष्टि खुलने पर देख सकना सम्भव हैं, वैसे ही आखें वन्द रहने पर भी अनुभूति होती रहती है। अन्तर्जगत् में इच्छानुरूप पदार्थ देख सकना और इच्छानुरूप सुन सकना सम्भव हो जाता है। सभी प्रकार इस ज्योति की पृष्ठभूमि में अवस्थित हैं तथापि दर्शनेच्छा के अभाव में अव्यक्त रह जाते हैं। व्यक्तता एवं अव्यक्तता इच्छाश्रिता है। इसकी दो दिशा है, प्रथम एक सर्वइच्छा की स्फूर्ति, द्वितीय है ऊपर इच्छाओं की तत्काल अस्फूर्ति।

प्रथमावस्था में ज्योति सर्वाकारा हैं। द्वितीत में यह है निराकार निर्गुण ब्रह्म स्वरूपा ज्योति अर्थात् ब्रह्म। इसमें जो सगुण एवं निगुर्ण का भेद भासित होता है, वह इच्छा की ही क्रीड़ा है। जीवगण आपेक्षिक भाव से दोनों को प्राप्त करते हैं, वे किसी एक को पूर्णतया, सर्वतः प्राप्त करने में असमर्थ से रह जाते हैं। हृदयाकाश में ज्योति का उत्स (Source) ही इष्टदेवता अथवा

देवता के रूप में उपलब्ध होता है। उनकी अंगप्रभा से अन्तराकाश में आलोक की घटा विभासित होती है। इस समय जिस आकाश की उपलब्धि होती है, वह है चित्ताकाश। ज्योति है चित्त की ज्योति। अर्थात् देवता है चित्त-ज्योति एवं द्रष्टा है चित्ताभिमानी द्रष्टा। यहाँ द्रष्टा और उत्स (Source) में भेद विद्यमान है। यह दृश्य है आकार। वह है मनोमय, ज्ञानमय एवं चित्तमय।

चित्ताकाश एवं चिदाकाश



तत्पश्चात (उत्स) एवं द्रष्टा दोनो मिलित हो जाते हैं। उस स्थिति में अपने ही आलोक से अपने को देख सकना संभव है। अब ज्योति में जो कुछ भी प्रकट होता है, वह है चिदाकाश। यहाँ जो कुछ देखा जाता है वह मनोमय नहीं अपितु चिन्मय है। यहाँ भी साकार और निराकार का भेद विद्यमान है। वह इच्छा से उद्भूत है। यहां चिन्मय आकार का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ द्रष्टा एवं उत्स, दोनों अभिन्नतया सुप्रतिष्ठ हैं। इसके पश्चात् इच्छा भी नहीं रहती। वहाँ सभी आकार नित्य स्फुट रहते हैं। किसी एक विशेष आकार की स्फुरणा नहीं रह जाती। यही यथार्थ निराकार है, जहाँ कोई भी आकार पृथकरूपेण उपलब्ध नहीं होता। यह अवस्था है, इच्छा से अतीत, सृष्टि से अतीत। इसे परब्रह्मावस्था भी कह सकते हैं।

इस चिदाकाश का प्राक्रुप (बिम्बरुप) शुद्धाकाश अनन्त वेग से घूर्णित होता रहता है। चिन्मय आकृति भी अनन्त वेग से घूर्णमान रहती है। इसे लीला की संज्ञा दी जाती है। एक बार स्थिर होने पर लीला भी अदृश्य हो जाती है। इससे पूर्व (चिदाकाशोदय के पूर्व) इच्छायुक्त दृष्टि के निःक्षेप से चित्ताकाश कम्पित होकर क्षुब्ध होता है। उसमें अनन्त ज्ञानमय, चिन्तामय आकार स्फुट हो जाते हैं। यह है चिन्ता की साकार स्थिति। चित्ता-काश में चित्तामय आकार निरन्तर अप्रतिहत वेग से घूमते रहते हैं।

चित्ताकाश के उदय क्षण के पूर्वक्षण में इच्छायुक्त दृष्टि निःक्षेप से भूताकाश कम्पित हो उठता है। उसके क्षुब्धीकरण से वहाँ अनन्त भौतिक आकार स्फुट

हो उठते हैं। ये हैं बीजस्वरूपी। इनसे छायामयी आकारानुभूति का उदय होता है। छायाकृति समूह पंचभूतमय (स्थूल) होते हैं। इससे भी पूर्व इच्छायुक्त दृष्टि निःक्षेप से वायुमण्डल में कम्पन एवं क्षोभ का आविर्भाव परिलक्षित होता है। अनन्त शरीरों को दृश्यरुप से देखने की प्रक्रिया होती है। दृश्य स्वरुप हैं, ८४ लक्षयोनिज प्राणी समूह। जो वास्तव में इच्छा का स्वामी है, वह प्रत्येक स्थिति में तत्-तत् स्तरों की सत्ता के साथ अभिन्नतया सुप्रतिष्ठ हो, उन्हे वशीभूत कर लेता है, अतएव तत्-तत् स्तरीय आकाश ही उसकी देह का स्वरूप बन जाता है। इच्छा के उदय के साथ-साथ देह क्षुब्ध होने लगती है। कामोदय की स्थिति में इस तथ्य का, सभी अनुभव करते हैं। क्षोभ के फलस्वरूप अनन्त आकाशस्थ आकार समूह में से इच्छानुरूप आकार विश्लिष्ट होकर इच्छाकारी की दृष्टि के सम्मुख स्थूलरूपेण आविर्भूत होने लगते हैं!

इन्द्रियजय का तात्पर्य



जब इन्द्रियसमूह हमारे अधीन हैं, जब चक्षु रहने पर भी (उसमें समस्त दृश्य शक्ति यथावत् रहने पर भी) हम दृश्य न देखें, तभी इन्द्रियजय प्रतिष्ठित होती है। अर्थात् आखें खुली हैं, प्रकाश एवं दृश्य विषय भी है, तथापि देखने की इच्छा (दिदृक्षा) का अभाव होने से दृश्य सम्मुखीन नहीं होते, अतएव इन्द्रियजय सम्पन्न है। इस स्थिति में चक्षु हमारे अधीन हैं। अपनी इच्छा के अधीन हो जाने से इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं।

जब हम देखना नहीं चाहते, तथापि देखने को वाध्य होते हैं, उस अवस्था में हम इन्द्रियाधीन हैं। हमसे इन्द्रियसमूह प्रवल हैं। विजित पर विजयी की इच्छा कार्य करती है। चित्ताकाश में अनेक स्तर विद्यमान हैं। जो भी चिन्ता हममें प्रातिच्छवित होती है, वह कितने निम्नरतर से आ रही है, यह स्पष्ट हो जाते ही उपरितन स्तर में उन्हें स्थान नहीं मिलता। निम्नस्तरीय चिन्तासमूह वायुजनित प्रत्याघात से इतस्ततः विक्षेप की सृष्टि करते हैं। कुछ चिन्तासमूह उर्ध्व स्तर से निम्नस्तर में उतर कर संचरण करते हैं।

इनका जन्म किसी की प्रेरणा से होता है। इसके अतिरिक्त भी इनके अनेकानेक भेद हैं। कौन मुझे देख-देखकर क्या चिन्तना कर रहा है? यह भी देखा जा सकता है। निम्नाधिकारी इस स्थिति को अस्पष्ट रूप से तथा उच्चाधिकारी स्पष्ट रूप से देखने में समर्थ हैं। स्वयं में, स्वयं की चेष्टा द्वारा भी चिन्ता का जन्म होता है। इसके मूल में चिन्ता की प्राक्सत्ता और उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है। यह एक अत्यन्त गुह्य तथा गम्भीर रहस्य के रूप में सिद्धमण्डली में निहित है।

रूप समूह



जिसकी स्थूल जगत् में (भूताकाश में) जिस किसी निर्दिष्ट देश एवं काल में उपलब्धि होती है, उसकी चित्ताकाश में भी यत्र तत्र प्राप्ति सम्भव है। चित्ताकाश में कोटि-कोटि चित्तमय आकार अन्तर्मारुत से प्रेरित होकर अप्रतिहत वेग से घूमते रहते हैं। किसी एक का आकर्षण कर उसे स्थिर करने से (उसके सदृश्य अन्याय) सभी आकृष्ट होने लगते हैं। परिणामतः इच्छित आकार घनीभूत हो जाता है। उसकी विच्छिन्न आकृति रश्मि एक स्थल पर संघटित होने लगती है। यही है एकाग्रावस्था। इस अवस्था में आकृति का प्रत्यक्षीकरण होता है। उसके चलन-चालन में स्थूलत्व का आभास मिलता है, कारण वह आकृति है, स्थूलत्वारोपित आकृति।

रूप समूह भी मानसिक एवं भौतिक, उभय प्रकार के होते हैं। किसी भौतिक रूप से उसका मानस रूप अंशतः अथवा पूर्णतया विच्छिन्न किया जा सकता है। पूर्णतः विच्छिन्न होने के पश्चात् पंचमहाभूत भी पारस्परिक रूप से विच्छिन्न हो जाते हैं। यह है संहार प्रक्रिया। मानस रूप की अंशतः विच्छिन्नावस्था में वस्तु का मात्र बलक्षय होता है। इस तथ्य को स्पष्टतः समझ सकना दुष्कर है। मानस रूप को मानस चक्षु ही देख सकते हैं। इसे आकर्षित एवं बद्ध करना अनिवार्य है, अन्यथा वह पुनः अपने मूलस्थल से संयुक्त हो सकता है। इस अवस्था में वह बाह्य भूतांश से संश्लिष्ट है। पक्षान्तर से जिसे आकर्षित

किया गया था, वह विच्छिन्न होने पर भी अपने मूल स्थान तक लौट जाने पर भी, अपनी एक आभा चित्रित कर जाता है। अर्थात् जो कुछ भी हम देखते है, वह एक प्रकार से हममें सदैव के लिये अपनी स्मृतिरूपिणी प्रतिच्छवि अंकित कर देता है।

आलोक



खण्ड सत्ता (फूल-घट-पट इत्यादि दृश्य) आलोक की ही एक अवस्था मात्र है। जिस आलोक में घट-पटादि रूपावस्था का भेद अविद्यमान है, वही है अखण्ड सत्ता। उसका विशुद्ध रूप बोधातीत है। संक्षेप में हम दो प्रकार के आलोक की उपलब्धि करते हैं :—

(१) अवस्थाहीन अव्यक्त आलोक—यह सत् एवं असत् से अतीत है। अर्थात् यदि इसे आलोक की संज्ञा न दे सकें, तो कोई हानि नहीं है।

(२) व्यक्त आलोक—यह अखण्ड सत्तारूप में प्रतीयमान होता है। इसकी एक पृष्ठभूमि है। यह निराकार होने पर भी साकार है। अर्थात मानों पृष्ठभूमि में जल है और समस्त खण्डसत्ता (घट-पटादि) उसकी तरंग।

इस खण्डसत्ता का अद्वैत रूपेण भी ज्ञान हो सकना सम्भव है। अद्वैतावस्था में इसकी अपनी पृष्ठभूमि से पार्थक्य होता जाता है। परिणामतः खण्डसत्ता ही साकार अद्वैतरूप से प्रकाशित होती है। अपनी पूर्णता में (यह साकार) निराकारवत् होकर निराकार में ही मिल जाता है। मिश्रित होकर पुनः प्रत्यावर्तित भी होता है। इसलिये इसे नित्यसाकार भी कहते हैं। खण्डसत्ता का द्वैतरूप से भान होते ही परिणाम धर्म प्रकाशित हो जाता है। पृष्ठभूमि ही प्रकृति का रूप धारण कर लेती है। तरंग, (आकार) उसकी विकृति अथवा परिणाम की संज्ञा से युक्त प्रतीत होने लगती है। पूर्ववर्णित अव्यक्त अवस्था

(प्रथमावस्था) में द्रष्टा और दृश्य दोनों परस्पर अभिन्नभाव से मिलित रहते हैं। इस आलोक का वर्णन कर सकना असम्भव है। द्वितीयावस्था में यह आलोक व्यापक हो उठता है। इस आलोक में अभेद दर्शन होता है। इस अभेद में तरंग रूप से तथा आभास रूप से भेद का परिज्ञान होता है। भेद की दृश्यता होने पर भी अभेद ही प्रधान है। अभेद लक्ष्य की प्रतिष्ठापना के कारण भेद का दर्शन नहीं होता। दोनों के मध्य लक्ष्य स्थापन करने से दोनों का दर्शन सम्भव है।

इस आलोक में विश्वरूप का दर्शन प्राप्त होगा। अर्जुन ने किंचित काल के लिये दिव्यचक्षु प्राप्त किया था। वह इसी आलोक का निदर्शन है। इस आलोक की प्रकाशमानता से ही वस्तु की वस्तुत्व रूपी सत्ता की उपलब्धि होती है। इस आलोक में जो अप्रकाशित है, वह अवास्तविक है। इसी अवस्था के साक्षात्कार से दृष्टिवाद एवं सृष्टिवाद प्रसूत है।

प्रकटीकरण एवं ब्रह्मालोक



वस्तु की सत्ता है एक आलोक की प्रकाशमानता। आलोक है, द्रष्टा का दृष्टि स्वरूप। उदाहरण से तत्व को स्पष्ट किया जाता है—

राम एक पुष्प देखता है। यह पुष्प उसके चक्षु गोलकस्थ आलोक से आलोकित है। राम के चक्षुद्वय इन्द्रिय सत्ता से सत्तान्वित हैं। जब तक राम देखता है, तब तक उसके लिये फूल सत्तान्वित है। न देखने पर पुष्प की सत्ता उसके लिये कैसे होगी ? यदि न देखने पर भी पुष्प की सत्ता रहती है, उस स्थिति में वह किसी अन्य के लिये दृश्यस्वरूप है, राम के लिये नहीं। अतः कहा जा सकता है कि राम की दृष्टिरश्मियों से ही पुष्पाकृति रूप दृश्य प्रसूत है। यहाँ एक ही इन्द्रिय का दृष्टान्त दिया गया है।

इस प्रकार अविद्या भी फूल की तरह प्रकट हो सकती है। यदि मोहन अधिक इच्छा बल का प्रयोग कर पुष्प को अविद्याच्छादित करने में सक्षम है,

तब राम की दृष्टि उस पुष्प को नहीं देख सकती। राम के लिये उस पुष्प का अदर्शन (लोप) ही सिद्ध होगा।

साधारणतः अन्धकाराच्छन्न प्रदेश में एवं निद्रा में, क्रमशः Objective एवं Subjective रूप से यही व्यापार निष्पन्न होता है। उदाहरणार्थ यदि राम की दृष्टि का आलोक मोहन द्वारा विसृष्ट अन्धकार (अविद्या) से प्रबल है, तब मोहन की शक्ति पुष्प को विलुप्त करने में समर्थ नहीं हो सकती। चेष्टा करने पर उपरोक्त अन्धकार रूपी अविद्या स्वतः स्तिमित हो सकती है। इसी प्रकार सभी सत्ता में आपेक्षिकत्व अवस्थित है। अविद्या (अन्धकार) से मात्र वस्तु लुप्त होती है, ध्वंसीभूत नहीं हो सकती। कारण प्रबलतर आलोक से उस अविद्यारूपी अन्धकार का भेदन करने से वस्तु समूह लुप्त नहीं रह सकता। अतएव ब्रह्म के आलोक में सत्य वस्तु का दर्शन करने से उसका अदर्शनात्मक—तिरोधान कभी भी नहीं हो सकता। कारण इस प्रकार का कोई तमः है ही नहीं, जो इस आलोक को आच्छन्न कर सके। इसी कारण ब्रह्मदृष्टि में समस्त वस्तु समूह नित्य रूप से प्रतिभात होता है। यही यथार्थ पारमार्थिक सत्ता है। इसका कभी भी तिरोधान नहीं होता।

ब्रह्मालोक में सभी वस्तु समूह की प्राप्ति मानी जाती है, वहां कुछ भी लुप्त नहीं रह जाता। इसमें अतीत, अनागत, वर्त्तमान रूपी आच्छादन का प्रश्न ही नहीं है। इस आलोक की तुलना में अन्यान्य सभी आलोक अन्धकार के प्रकार भेद मात्र हैं। ब्रह्ममार्गी योगीगण पर कोई भी देवतादिक प्रभावी नहीं होते। उनके समक्ष देवतादिक स्तंभित हो जाते हैं। उनकी सक्रियता स्वतः निष्क्रिय देवसत्ता में परिणत हो जाती है।

देवदर्शन



देवता का आविर्भाव होने पर सर्वप्रथम उनकी ज्योति का साक्षात्कार होता है। साधक केवल मात्र ज्योति देखने में समर्थ होते हैं। दीर्घकाल पर्यन्त ज्योतिदर्शन जनित अभ्यास से चक्षु में अभ्यस्तता की शक्ति आने लगती है।

अपना उपादान देवता की सत्ता से सत्तान्वित होते ही रूप दर्शन का क्रमिक प्रारम्भ होने लगता है। देवता अथवा सिद्धगण ज्योति संहरण कर लेने पर भी अपना रूप प्रदर्शित कर सकते हैं, किन्तु इस प्रक्रिया से साधक अभिभूत होने लगता है। उसकी मृत्यु भी संभव है। "शिवभूत्वा शिवं यजेत्" ही यथार्थ प्रक्रिया है। देवता की ज्योति सहन करते करते तथा आत्मसात करते-करते देवता का क्रमिक दर्शन उचित है। इसमें एक अन्य रहस्य भी अन्तर्निहित है :—

क और ख का सान्निध्य होने पर सर्वप्रथम क की प्रभा ख की प्रभा द्वारा धीरे-धीरे अभिभूत होती है। तत्पश्चात् ख की प्रभा का दर्शन संभव होता है। इसे पुनः पुनः देखने पर ख का रूप दर्शन होना संभव है। इस स्थिति में क की सत्ता ख के प्रभामण्डलान्तर्गत हो जाती है। इसका नाम है सालोक्य। यह भी सामयिक अवस्था मात्र है। इस अवस्था का आयत्तीकरण होने के पश्चात् (समय पूर्ण होने पर) जब मृत्यु सम्प्राप्त होती है, उस समय तदनुरूप "ख" के लोक में गति होती है। अब भय का लेश भी नहीं रह जाता। स्थूल देहस्थिति में अत्युच्चावस्था पर्यन्त अग्रसर होने पर भी (रूप दर्शन के बिना) सालोक्य संभव नहीं है। देहावस्थान काल में भी देवता का रूप प्राप्त हो सकता है। सालोक्य स्थायी होते ही क की छायामयी प्रभा चिरकाल के लिये अभिभूत हो जाती है। वह स्वयं ही प्रभारूप हो जाता है। अर्थात् ख की प्रभा में मिलित हो जाता है। क की अपनी प्रभा अवशिष्ट नहीं रहती। यह है दास्य-भाव का प्रारम्भ। सारूप्य प्राप्त होने पर "ख" लोकवासी साधकगण "क" में अन्तर्भूत हो जाते हैं। किन्तु इन साधकों पर "क" का प्रभाव नहीं पड़ता।

सार्ष्टि अवस्था में (जब रूप को शक्तिमत्ता प्राप्त होती है) उपरोक्त ख लोकवासी साधकगण क की स्वशक्ति के अधीन प्रतीयमान होते हैं। यह भी आपेक्षिक अवस्था है। इसके पश्चात् शक्ति द्वारा समान सत्ता की स्थिति आती है, जिसे सायुज्य कहा गया है। सायुज्य में साधक देवता रूपेण प्रतीयमान होकर देदीप्यमान होते हैं। यहीं से निर्गुण राज्य की सीमारेखा का प्रारम्भ है। सामीप्य की स्थिति वास्तव में सारूप्य एवं सायुज्य की मध्यवर्ती स्थिति है। लीलावादी भक्तजन की गति सामीप्यपर्यन्त ही हो सकती है। सामीप्य में विरह की सत्ता प्रतीत होती है। सारूप्य से विरह परिसमाप्त हो जाता है। किम्बहुना सारूप्य भी यथार्थ मिलन नहीं है। सारूप्यावस्था में मात्र रूप का दर्शन प्राप्त होता है। सामीप्य में देवाधिकार की सीमा आयत्त होने लगती है। मंजरी एवं सखी भाव

सामीप्य के अन्तर्गत परिगणित है। सामीप्य में नाना प्रकार के दास्य भाव का परिस्फुटन तथा विकास परिलक्षित होता है।

ज्योति दर्शन देवता के वाह्य परिमण्डल का दर्शन है। रूप दर्शन है, अन्तः परिमण्डल की उपलब्धि। रूपदर्शन प्राप्त होते ही साधक इष्टधाम की प्राप्ति कर लेता है। रूप दर्शन के पश्चात् (आयु समाप्ति के क्षणों में) मृत्यु सम्प्राप्त होते ही साधनानुरूप दिव्यावस्था आयत्त होती है। इस अवस्था में दीर्घातिदीर्घ काल अतिवाहित हो सकता है। क्रमिक उत्कर्ष से सालोक्य प्राप्ति के पश्चात् भगवत् धाम में अनन्तकालीन सारूप्यावस्था की अनुभूति प्राप्तहोती है। इसके विपरीत यदि देह में रहते रहते (जीवितावस्था में) ही सालोक्य से सारूप्य तक की यात्रा सम्पन्न हो सके, उस स्थिति में अत्यल्प काल में कर्म पूर्ण हो जाता है।

हम में से अनेक कहा करते हैं "मैं प्रभु का दास हूँ"। कहने मात्र से दासत्व की प्राप्ति असम्भव है। दासत्व के लिये **रूपदर्शन** अपेक्षित है। केवलमात्र रूप ज्योति दर्शन से दासत्वाधिकार की प्राप्तिअसम्भव है।

ध्यान



चक्षु निमीलित करने पर जिस अन्धकार का दर्शन होता है, वह साधक का अपना अविद्याजनित छाया-मण्डल है। वह है वासनादिमय आवरण स्वरूप। जप-ध्यानादि से यह आलोकित हो उठता है। जपादि से क्षुद्रातिक्षुद्र तड़िंतांश संचित होते हैं। तड़ित्‌कण घनीभूत होकर उस अन्धकार को विदूरित करते हैं। ध्यान से भी यही प्रक्रिया त्वरित गति से सम्पन्न हो सकती है। जप एवं ध्यान में दीक्षा का प्रचुर महत्व ज्ञात होता है। साधारण ध्यान एवं जप कल्पित रूप, शब्दादि पर आधारित हैं। दीक्षा के पश्चात् गुरुप्रदत्त अकल्पित शब्द एवं अकल्पित रूप के प्रतिरूपक जप तथा ध्यान प्राप्ति द्वारा अन्धकार का क्रमिक भेदन संभव है। ज्योति दर्शन इसी का नामान्तर है।

क्रम वृद्धि से ज्योति की परिशुद्धता तथा प्रसार अभिवृद्धि प्राप्त करता है। इस अवस्था में भी रूपदर्शन नहीं हो सकता। तत्पश्चात् और भी परिशुद्धि

तथा प्रसार सम्पन्न होते ही रूपदर्शन की स्थिति आती है। यह है अकल्पित शब्द का उत्थान एवं मंत्र चैतन्यावस्था। एक केन्द्र पर रूप एवं शब्द संचित होने लगता है। इसका अन्य नामान्तर है "सूर्योदय। अभी भी मेघरूपी आच्छादन से चैतन्य सूर्य आच्छादित सा लगता है। इसी कारण धामवासी सिद्ध-साधकगण सर्वदा देवदर्शन प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। उनका देवदर्शन सतत् एवं पूर्ण देवदर्शन नहीं है। वह है क्षणिक और तात्कालिक देवदर्शन। यथार्थ एवं पूर्ण देवदर्शन की स्थिति में मेघाच्छादन की स्थिति सदा-सर्वदा के लिये विनष्ट हो जाती है। यही **सारूप्य** है।

प्रकृत ध्यान जब-तब नहीं हो सकता। वह होता है, वास्तविक रूपानुभूति के पश्चात्। रूपदर्शन के पश्चात् ध्यान में स्वाभाविकता तथा निरपेक्षता आ जाती है। ध्यान भंग अर्थात् बाह्य स्थिति। इसलिये पुनः जप, पुनः रूपाविर्भाव, पुनः ध्यान करना आवश्यक है। प्रक्रिया का बारम्बार अनुवर्त्तन होने से स्थायी परमरूप का आविर्भाव हो सकता है। इस आविर्भाव से सब विपर्ययों का स्तम्भन हो जाता है। ज्योति का आश्रय लेकर भी ध्यानावस्था में निमज्जन होना स्वाभाविक है। कुछ साधक बाह्य रूप का आश्रय लेकर ध्यान करते हैं, यह उचित नहीं है। मात्र ज्योति ध्यान से ही प्राप्तव्य प्राप्त होता है।

आँखें बन्द करने के पश्चात् जिस अन्धकार का परिदर्शन होता है, वही हमारा जगत (वासनामय) है। देवगण कभी भी चक्षु बन्द नहीं करते। वे जिस प्रकाश में देखते हैं, वही उनका लोक है।

दर्शन की अवस्था



उन्नत साधक आखें बन्द करने के पचशत् अन्धकार नहीं देखते। यह दिव्यचक्षु प्राप्ति की सूचना है। दिव्यचक्षु कभी भी बन्द नहीं होते। इस दिव्यचक्षु के आलोक में जो कुछ भी देखा जाता है, वह चक्षु का ही अंगीभूत है। इस प्रकार विवेचना करने से हम चार अवस्थान्तर की अनुभूति करते हैं :—

(१) संसारावस्था—इससे साधक देवता को नहीं देखते, देवता भी साधक को नहीं देखते। दोनों का पारस्परिक लक्ष्यस्थापन नहीं रहता।

(२) साधकावस्था—देवता साधक को देखते हैं, परन्तु साधक देवता को नहीं देखते, अर्थात् देवकृपा प्रारम्भ हो जाती है। परन्तु अभी साधक का अधिकार क्रमिक वृद्धि प्राप्त नहीं कर सका है।

(३) सिद्धावस्था—साधक देवता को देखते हैं, उसी प्रकार देवता भी साधक की ओर उन्मुख रहते हैं।

(४) अति सिद्धावस्था—साधक देवता को देखते हैं, परन्तु देवता साधक को नहीं देख सकते। साधक ईश्वर भूमि में उपनीत है। वह द्रष्टा एवं जाग्रत है। देवता उसमें समाहित है।

सृष्टि-स्थिति-संहार



भविष्यत् का अर्थ है **सृष्टि**। वर्त्तमान का अर्थ है **स्थिति**। अतीत का अर्थ है **संहार**। वर्त्तमान तो है ही। वर्त्तमान का आश्रयण कर सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रीड़ा चल रही है। इच्छा के अनुदय से स्थिति होती है। उदय से सृष्टि एवं संहार प्रतिफलित होता है। इच्छा के प्रभाववश सत्ता का पृथक्भाव उदित होते ही सृष्टि होती है। इच्छा के प्रभाववश सत्ता का पार्थक्य तिरोहित हो जाने से संहारात्मिका लयावस्था का आविर्भाव जानना चाहिए। सीमाबद्ध द्रष्टा की दृष्टि में सृष्टि तथा लय की सत्ता रहती है। द्रष्टा को दर्शनगोचर होने से सृष्टि की सत्ता है। द्रष्टा को अदृश्य प्रतीत होने से संहार प्रतिफलित होता है। अबाधित दर्शन की स्थिति में (सीमाबद्धता का तिरोधान होने से) सृष्टि तथा लय अर्थहीन हो जाते हैं। यह है नित्यावस्था।

दृश्यत्व

□

सभी पदार्थों में एक दृश्यत्व धर्म अवस्थित है। यही है रूप। उसका अव्यत्व ही शब्द है। दृश्यता या रूप को क्षीण कर सकने पर, अर्थात् सीमाबद्ध दृष्टि को स्थिर करने के पश्चात् वस्तु में अनुपातिक न्यूनता का संचार करने का कौशल आयत्त होने से द्रष्टा की सीमारेखा से वस्तु का लोप हो जाता है। इन्द्रियवर्ग के सम्बन्ध में भी यही सत्य प्रतिफलित होता हैं। जब द्रष्टा वस्तु या दृश्यता की क्षीणता के अनुपात से अपनी दृष्टि में भी सूक्ष्मता का आरोपण करता है, तब वस्तु का अदर्शन या लोप संभव नहीं होता। इसी प्रकार द्रष्टा का अपरिसीमत्व सिद्ध होने की स्थिति में भी अदर्शनत्व दूर हो जाता है।

चक्षुद्वय को बन्द करने से जिस अन्धकार का परिदर्शन होता है, वह चित्त का मल एवं आवर्जन है। यह आवर्जन निम्न भाग से परिसंचित होता है। वास्तव में चित्त स्फटिक के समान स्वच्छ हैं। उर्ध्वस्थ सहस्त्रारस्थ ज्योति सदा सर्वदा चित्त पर पड़ती रहती है। ज्योति पड़ती रहने पर भी जब तक आवर्जन रूपी मेघ नहीं कट जाता, तब तक किसी प्रकार का उत्थान हो सकना सम्भव नहीं है। इस आवर्जन के समाप्त होते ही चित्त आलोकित हो उठता है। चित्त की आलोकित स्थिति की अनुभूति इसी अवस्था में हो सकती है। यह आलोकपात अहैतुक है। इसका कोई कारण नहीं है। यह स्वयं है और स्वयमेव हो रहा है। इसके लिए चेष्टा नहीं की जाती। चेष्टा करके भी इसकी प्राप्ति कैसे होगी? मानव के प्रयत्न पर सूर्य (सहस्रदल) का आलोक विकिरण आधारित नहीं है। मानव प्रयत्न होता है, मात्र उपरोक्त आवर्जन रूपी मेघ को हटाने के लिए! मेघाच्छादन हटते ही नित्य प्रकाशमय ज्योति स्वयमेव उद्भासित हो उठती है।

जब चक्षु बन्द करने पर अन्धकार का भान नहीं होता (दृष्टिगोचर नहीं होता), तभी व्यापक प्रकाश का भान हो सकता है। व्यापक प्रकाश का भान होते ही ज्ञान होने लगता है कि सूक्ष्म शरीर अपने स्थूल शरीर से अलग होता जा रहा है। स्थूल है पंचभूतमय भौतिक आवरण। सूक्ष्म अर्थात् स्फटिकवत् चित्त (कारण का तात्पर्य है Source of Illumination)। स्थूल से सूक्ष्म

सत्ता विविक्त होते ही आलोक की उपलब्धि होने लगती है। यह आलोक कारण केन्द्र से अभिनिसृत है। इस आलोक में समस्त जगत का दर्शन होता है। इस स्थिति को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथमावस्था में अपने शरीर को छोड़कर अन्य रूप से प्रतीयमान सब कुछ का दर्शन सम्भव है। द्वितीय अवस्था में अपनी देह भी देखी जा सकती है। अर्थात् देह भी अन्य रूप से प्रतीयमान दृश्य के साथ एक श्रेणीभुक्त हो जाता है।

देखा जाता है आलोक में। दृश्य है अपना चित्त। देखता कौन है? देखता है जीव, साक्षी या द्रष्टा। इस व्यापक आलोक का उत्स (Source) है परमेश्वर। इसे वेद अथवा ब्रह्म भी कहते हैं। द्रष्टा के दृष्टिकोणानुसार जीव स्वरूपतः अणु है। व्यापक चित्तयोगावस्था में वही विभु है। स्थूल देह में चित्त को व्यावहारिक दिशा प्राप्त होती है। इस व्यावहारिक संकोच से जीव मध्यम हो जाता है।

व्यापक आलोक



चित्त पर सतत् प्रतिफलित हो रहे इस व्यापक आलोक का कोई हेतु नहीं है। यह शाश्वत है। यह है भगवान की नित्यसामान्य कृपा। इसके अभाव में जीव प्रयत्न करके भी कुछ पाने में असमर्थ है। चित्त क्षेत्र से अन्धकार राशि अपसारित हो जाने पर भी (इस आलोक के बिना), चित्त अव्यक्त ही रह जाता। उसमें कुछ की, यहाँ तक कि अपनी भी स्फूर्ति नहीं रह जाती।

अब प्रश्न उत्थित होता है कि इस प्रचेष्ठा का मूल कहाँ है? मेघ हटने पर आलोक की उपलब्धि होती है। आलोक तो है ही, किन्तु मेघ राशि को विच्छिन्न कौन करेगा? मेघ समूह को वायु हटाती है। वायु का एक सामान्य रूप भी है। इस सामान्य रूप में वह मेघराशि को हटा सकने में समर्थ नहीं है। कारण, वायु तो व्यापक रूप से सर्वत्र विद्यमान है। उससे मेघ का अन्तर्विरोध कैसे हो सकता है? इसलिये मेघराशि को हटाने के लिये आवश्यक है, विक्षुब्ध अथवा विशेष वायु। वायु प्रवाह (विशेष वायु) का मूल है सूर्य। सूर्य की विशेष किरणों से वायु प्रवाहशील होने लगता है। वस्तुतः अन्तर्मेघ अन्तःसूर्य की

सामान्य किरणों का आवरक नहीं है। वह है द्रष्टा के साथ हो रहे किरण सम्बन्ध का आवरक। सूर्य की कृपा बिना उसकी अपनी व्यापक महाकृपा का अनुभव नहीं हो सकता। यही है दीक्षा कर्म। जीव की प्रयत्नशीलता निमित्त मात्र है। वह तो विशेष कृपा से प्रसूत फल की सामान्य कणिका ही है।

जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति



कहा जा चुका है कि आखें बन्द करने पर जीव का, या प्रत्यगात्मा का अन्धकार परिलक्षित होता है। इस अन्धकार को दूरीभूत किये बिना ही स्थूलाभिमान विस्मृत होने की दशा में **स्वप्न दर्शन** होता है। उपरोक्त प्रत्यगात्म अन्धकार दूरीभूत न करने से और स्थूल देह में लिप्त रहने से (स्थूल देहात्मबोध में स्थित रहने से) **जाग्रतावस्था** का उद्भव होता है। उपरोक्त अन्धकार को दूर भी नहीं किया है, अथच स्थूल स्थिति विस्मृत है, साथ ही चित्त भी प्रशान्त है, इसे **सुषुप्ति** कहते हैं। स्वप्नावस्था में मन अस्थिर रहता है। स्वप्नावस्था में विचित्रता यह है कि वहाँ अन्धकार में निमज्जितावस्था रहते हुये भी दृश्य दर्शन होता है। अन्धकार प्रतीत नहीं होता। वहाँ जिस दृश्यरूपी जगत का दर्शन होता है, वह है वासना से ओतप्रोत स्वप्न जगत।

जाग्रतावस्था में अन्धकार निहित है "अन्तर वृत्ति" में। वहाँ बाह्य स्मृति जाग्रत रहती है। जाग्रत एवं स्वप्न, दोनों में मन की कार्यशीलता पूर्ण स्थित रह जाती है। जाग्रत में इन्द्रियां कार्यरत रहती हैं, द्रष्टा भी कार्यरत है तथापि प्रत्यवमर्श नहीं रहता। सुषुप्ति में मन अक्रिय है, इन्द्रिय समूह भी प्रशान्त हो जाते हैं, किन्तु प्रत्यवमर्श भी अस्तमित रह जाता है। प्रत्यवमर्श के अभाव से द्रष्टा की निद्रावस्था की साक्षीभूतता फलवती नहीं होती। वह यह नहीं समझ पाता कि "मैं निद्रावस्था को देख रहा हूँ"। जाग्रतावस्था में वह द्रष्टत्व का अनुभव कर सकने में समर्थ है। स्वप्न एवं सुषुप्ति में प्रत्यवमर्श का अवसर ही नहीं है। एकमात्र जाग्रतावस्था में ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

ज्ञानात्मक देवदर्शन



चक्षु बन्द करने पर अन्धकार दीखना समाप्त होने की स्थिति में ही देहात्मबोध की विच्छिन्नता हो सकती है। अन्धकार की विलुप्ति के साथ-साथ स्थूल देह और सूक्ष्म देह में पारस्परिक विच्छेद होने लगता है। जाग्रतावस्था में प्रत्यवमर्श की वृद्धि से भी यह संभव है। इसे ज्ञान कहते हैं। इस स्थिति में आलोक दर्शन करते-करते द्रष्टा को उपलब्धि होती है कि वह देख रहा है। यही साधना का लक्ष्य है।

चित्ताकाश में देवदर्शन होता है। चित्त देवता का स्थान है। चिदाकाश स्थान है गुरुदर्शन का। देवदर्शन के पूर्व चित्तक्षेत्र में परिष्कार तथा आलोकोन्मुखता होना आवश्यक है। चित्ताकाश से चिदाकाश पर्यन्त के "पथ" का नाम है, ब्रह्मनाड़ी। चिदाकाश से समागत आलोक द्वारा चित्ताकाश अन्धकार विहीनता प्राप्त करता है, तत्पश्चात प्रदीप्त होता है देवरूप में। इसी कारण कहते हैं कि गुरु के बिना देवता को कौन दिखला सकता है? वस्तुतः गुरु ही गुण क्षेत्र में देवरूप से आविर्भूत होते हैं। जो आलोक प्रवाह चिदाकाश से चित्ताकाश पर्यन्त अवरोह क्रम से उतरता है, वही पुनः आरोह क्रमानुसार चिदाकाश की ओर उत्थित होने लगता है। अतः यह उक्ति अक्षरशः सत्य है कि देवता साधक को गुरु सान्निध्य तक पहुंचा देते हैं। इस प्रकार से क्षेत्रीय सगुण का पर्यवसान होता है चिदाकाशस्थ निर्गुण में।

हम सर्वप्रथम सूर्योदय के पूर्व क्षण के आकाश में एक परिष्कृत भाव का उदय देखते हैं। परिष्कार के पश्चात् सूर्योदय की स्थिति आती है। जो सूर्य उदित है, उसी के प्रभाव से आकाश प्रकाशमान होकर अन्धकार का उच्छेद करने में समर्थ होता है। उपरोक्त उदाहरण के समान देवाविर्भाव के पूर्व क्षण चित्ताकाश में प्रकाश का संचार अनुभूति में अंकित होता है। वह प्रकाशित लगता है, देवता की ज्योति से। प्रथम चित्तशुद्धि, तत्पश्चात् देवदर्शन की उक्ति असार है। कारण चित्त की शोधिका है देव ज्योति। यहाँ एक सर्वमान्य सिद्धान्त की आलोचना आवश्यक है। रात्रि जनित अन्धकार एवं मेघजनित अन्धकार—

दोनों दो प्रकार के अन्धकार हैं। सूर्योदय से रात्रि का अन्धकार विच्छिन्न हो सकने पर भी मेघान्धकार विच्छिन्न हो सकना असंभव है। जीव में भी यही सिद्धान्त कार्यशील है। गुरु की सामान्य कृपा से (जीव का अनादिकालीन हृदयान्धकार विदूरित होने से) देवसूर्य उदित होते हैं। इतने पर भी स्थूल देहाश्रय निमित्तक आवरण (मेघावरण) शेष रह जाता है। इसीलिये साधकगण प्रकाश एवं प्रकाशक का सन्धान प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। साधन कर्म रूपी वायु से यह आवरण अपसारित हो सकता है। कभी-कभी मृत्यु के पश्चात् (अचिन्त्य कारणवशात्) इस मेघ की विच्छिन्नता से आलोक की अनुभूति संभव हो जाती है, क्योंकि दीक्षाकाल में श्री गुरु की सामान्य कृपा से रात्रिकालीन अन्धकार पूर्व में ही उच्छिन्न हो चुका था।

चित्ताकाश में देवाविर्भाव का उल्लेख किया जा चुका है। प्रथमतः रूप का आविर्भाव, तत्पश्चात् उसमें चेतना का संचार, अथवा चेतन रूप का आविर्भाव। यह है ऊर्ध्व से निम्न में ज्योति का अवतरण। यह होता है हृदय क्षेत्र में आज्ञा क्षेत्र में। पक्षान्तर से निम्नस्थ पंचभूतों का सारांश ऊर्ध्वगामी होने लगता है। इन सबका आविर्भूत ज्योति में समर्पण आवश्यक है। समर्पण से ज्योति पुष्टि सम्पादन प्रक्रिया में पूर्णतत्र हो जाने से ज्योति भी ऊर्ध्वमुखी विन्दु में लौट जाती है। यह अर्पण है, भोगदान या निवेदन। तदनन्तर स्थिति है प्रणाम की, अर्थात् आत्मनिवेदन। इस प्रक्रिया से साधक ऊर्ध्वगागी प्रवाह में समर्पित हो जाते हैं। ऊर्ध्व प्रवाह ऊर्ध्व विन्दु पर जाकर प्रशमित होता है। यही है अद्वैतानुभूति। कालान्तर में वेगक्षय के साथ-साथ साधक स्वभूमि पर उतर आता है।

पंचोपचार, ध्यान-प्रणाम



सब कुछ ऊर्ध्वोत्थित होने के साथ-साथ गंध-रस-तेज-वायु एवं शब्द भी ऊपर उठता है। देव में स्वयं की गंध नहीं है। वे इसी गंध से सुगन्धित होते हैं। इसी रस से रसान्वित, तेज से तेजान्वित होते हैं। इसी ज्योति से उद्भासित तथा इसी वायु से हिल्लोलित होते लगते हैं।

शब्द प्रकाशित होता है, शंख घण्टादिक की ध्वनि से। अन्त में है प्रणाम। प्रणाम के साथ ही साधक का सब कुछ एवं स्वयं साधक भी निवेदित हो जाता है। यहीं से प्रारम्भ है ध्यान, समाधि की स्थिति का। क्रिया-ध्याना-दिक के समय देहस्थ तड़ित् ऊर्ध्वमुखी हो जाती है। सब की गति मस्तकोन्मुखी होती है। योग (निरोध) के समय एक तीव्र वायु क्रमशः ऊपर उठती है। यही नहीं, सब कुछ ऊपर की ओर संचरण करता है। निम्नदेश की स्थिति शववत् प्रतीत होती है। इसी कारण ध्यानावस्था में यदि कोई स्पर्श कर देता है, उस स्थिति में प्राण की गति तत्क्षण ब्रह्मरंध्र से नीचे की ओर उतरने लगती है। इससे साधक को एक प्रबल आघात सहना पड़ता है।

ध्यान से स्वाभाविक व्युत्थान की दशा में वह तेज पैरों की ओर उतरता रहता है। इसलिए गुरु को प्रणाम करना श्रेयस्कर है। प्रणाम करने से प्रणम्य का तेज प्रणामकारी की ओर आगतोन्मुख रहता है। यद्यपि यह लोकोपकार है, तथापि इस स्थिति में प्रणाम स्वीकार करने से साधक की क्षति होती है। इष्टदेवता का चरण अपने मस्तक पर धारण करके प्रणाम देने से क्षति की संभावना नहीं रहती। कारण उस स्थिति में साधक मात्र माध्यम है। जो तेज प्रणामकारी की ओर उन्मुख है वह इष्ट देवता से प्रवाहित होते-होते साधक में प्रदीप्तमान रहता है। जो नमस्कार करता है, उसका नमस्कार साधक को नहीं, प्रत्युत देवता का समर्पित है। इस कारण योगयुक्त होने के पूर्व किसी का प्रणाम स्वीकार करना वर्जित है। जो योगयुक्त न हो (पिता-माता एवं गुरुजनों को छोड़कर) उसे प्रणाम भी नहीं करना चाहिये, अन्यथा कर्म संस्कार का परस्पर समागम संभावित है। जो प्रणाम करता है, उसका अपना तेज मस्तक की ओर गतिशील होना चाहिये। वहां से वह प्रणम्य के चरणों में संचरण करता है। जो प्रणाम लेता है, उसका तेज चरणोन्मुख होना आवश्यक है। यदि प्रणम्य का तेज ऊर्ध्वगामी है उस स्थिति में प्रणाम करने पर प्रणामकारी तक्षण समाधि में प्रवेश कर सकता है (इससे प्रणामकारी का दैहिक अहित भी सम्भव है, कारण अभी उसका आधार बल न्यून है)।

ऊपर जो कुछ कहा गया, वह देवता, गुरु और शिष्य का गुप्त रहस्य है। सकाम प्रणाम में गुरु का तेजश्रोत बहिर्मुख एवं अधोमुख होकर शिष्य में संचरणशील रहता है। इससे शिष्य की कामना परिपूर्ण होती है।

निष्काम प्रणामावस्था में गुरु का एवं देवता का श्रोत अन्तर्मुखी है। वह

शिष्य या पूजक को अन्तर्मुखी धारा में आकर्षित करता है। शिष्य का समस्त तेज मस्तक में संचित होने लगने की प्रक्रिया का यही प्रारम्भिक रूप है। इसे अभयदान भी कहते हैं। भगवद्दास्य की आकांक्षा के साथ साष्टांग प्रणाम की प्रक्रिया होनी चाहिये, कारण वहां स्निग्ध तेज कार्योन्मुख है।

आकार



चैतन्य निराकार एवं साकार, उभय सत्ता में प्रतिफलित है। किसी आकार का निर्णय न रहने से वह निराकार है। समस्त आकार, उसमें सन्निहित हैं। निराकार चैतन्य है शिवरूप। साकार चैतन्य अर्थात् शक्ति। साकार चैतन्य में अनन्त भेद एवं आकार विद्यमान हैं, तथापि महाशक्ति रूप से इनमें एकत्व भी प्रतिष्ठित रहता है। इसका प्रत्येक आकार एक-एक सामान्य और मूल रूप (unit) है। वह मिश्रित नहीं है। गुण के राज्य में मूल (unit) नहीं होता, फिर भी सब कुछ उस एक मूल से निबन्धित है। आकार अंशी नहीं है। वह है एक unity। उसमें अंश नहीं, अतः क्रम की कल्पना नहीं हो सकती। इसी कारण बद्धजीव क्रमशः कल्पना द्वारा मूर्तिगठन नहीं कर सकते।

उदाहरणार्थ गुलाब पुष्प का दृष्टान्त देता हूँ। चिन्मय गुलाब सर्वप्रथम हृदय में उद्‌भूत होता है। वास्तव में यह वास्तविक गुलाब की सूक्ष्माकृति है। इस सूक्ष्म गुलाब का बहिर्जगत में, महाकाश में आनयन होने से, पंचभूत सम्पृक्त गुलाब पुष्प का आकार गठित होता है। यही है वह स्थूल गुलाब जिसे हम देखते हैं। किन्तु चिन्मय गुलाब (गुलाब पुष्प सृष्टि की इच्छा) वास्तव में शक्तिरूपा है, जगत् में प्रत्यक्षीभूत पंचभौतिक गुलाब में से पंचभूत एवं सत्वांश खींच लेने पर अवशिष्ट बचता है-चिन्मय गुलाब। वह इस स्थिति में विविक्त न रहकर चैतन्य समुद्र में विलीन सा प्रतीत होता है। उसे 'गुलाब' संज्ञा से पहचान सकना सम्भव नहीं रहता। ब्रह्म समुद्र में डूबने से यही अवस्था हो जाती है।

रंग (वर्ण)



जगत की शेष सीमा है रंग। उसी के पश्चात् वस्तु की सत्ता मिलती है। हम वस्तु को देख नहीं सकते। रंग ही देखते हैं। प्रत्येक वस्तु का एक वर्ण होता है। वस्तु का आविर्भाव अर्थात् साथ-साथ रंग का प्राकट्य। प्रकारांतर से उस समय रंग का ही प्रस्फुटन गठित है। रंग के आविर्भाव से पृष्ठभूमि में स्थित रूप का संधान होने लगता है। रूप की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। रंग की भूमि में वीजवपन होना चाहिये। तीव्रतम एकमुखी चिंतना से रंग की उपलब्धि होती है। वस्तु अथवा रूप की प्रभा ही रंग है। रंग का भेदन करने से ही रूप का प्रतिभासन हो सकेगा। जिस प्रकार ईश्वर योगमाया से समावृत्त रहते हैं, उसी प्रकार देवता, जीव तथा सभी वस्तु अपनी-अपनी वर्णात्मक प्रभा से आच्छन्न हैं। यह प्रभा योगमाया अथवा वर्णमय प्रकृति का क्षेत्र है। इसमें चिद्वीज का वपन करने पर रूप का आविर्भाव संभव हो जाता है।

स्थूल चक्षु द्वारा दृश्य दर्शन में स्थूल प्रकाश सहायक है। यह है आग्नेय वर्ण का प्रकाश। सूर्य किरण आग्नेय किरण है। चन्द्र किरण भी आग्नेय किरण है, कारण वह कालाग्नि मण्डलस्थ है।

विभिन्न नेत्र



यह स्थूल आँखें बन्द करने पर जिस अन्धकारादि का दर्शन होता है, उसे मन देखता है। सूक्ष्म प्रकाश के वर्ण से सूक्ष्म जगत परिदृश्यमान है। सूक्ष्म प्रकाश विशुद्ध चन्द्र का प्रकाश है। वह कालाग्नि मण्डलस्थ भौतिक चन्द्र

का प्रकाश नहीं है। पृथ्वी पर विशुद्ध चन्द्र का प्रकाश उपलब्ध हो सकना दुष्कर है। इस विशुद्ध प्रकाश का उदय होने से चित्ताकाशस्थ जगत्रूपी वर्ण की अनुभूति प्रारम्भ हो जाती है।

इस मन रूपी चक्षु को भी बन्द कर सकते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में एक और चक्षु अवस्थित है। इसे बुद्धि अथवा प्रज्ञा के नेत्र कहते हैं। वह कारण जगत् को देखता है। इसके दृश्य दर्शन में विशुद्ध अन्तः सूर्य का प्रकाश कार्यकारी है। इस प्रकाश में समस्त कारण जगत् का दर्शन होता है।

इस बुद्धि के नेत्र को भी बन्द करने पर बोध के नेत्रों की उपलब्धि हो जाती है। इसके मूल में ब्रह्म ज्योति ही कार्यकारी है। यह चन्द्र, सूर्य, अग्नि सबसे अतीत है। उसी की आभा से ये सब प्रकाशित रहते हैं। ब्रह्मज्योति प्रकृत साक्षी और महती शक्ति रूपा है।

दर्शन का प्रारूप



सूक्ष्म जगतस्थं प्रकाश में चन्द्र की प्रधानता है। पृष्ठभूमि में सूर्य भी रहता है। स्थूल जगतस्थ प्रकाश में अग्नि प्रधान है। कारण जगत् के प्रकाश का स्रोत है, विशुद्ध सूर्य।

शिवलोकस्थ शिवदर्शन और बाह्य शिवदर्शन का प्रारूप पारस्परिक विभिन्नता से ओतप्रोत है। बाह्य शिवदर्शन है शिवांश का दर्शन। यह शिवलोक से स्फुलिंग के समान निर्गत होता रहता है। शिवलोकस्थ शिवदर्शन अन्य प्रकार का है। इसमें सर्वप्रथम शिवलोक का प्रकाश अनुभूत होता है। इस आलोक से समस्त अन्तराकाश में प्रदीप्तता का आप्लावन हो जाता है। तदनन्तर शिवलोकस्थ भक्तगण एवं परिकरगण प्रत्यक्षीभूत होते हैं। आंशिक शिवदर्शन में समस्त अन्तराकाश कैसे आलोकित हो सकेगा?

प्रत्येक आलोक में प्रत्येक वस्तु का दर्शन असम्भव है। समजातीय आलोक में समजातीय दृश्य का दर्शन सम्भव है। जहाँ ब्रह्मज्योति क्रीड़ा करती है,

वहाँ जगत नहीं है। वहाँ सब कुछ ब्रह्म ही है। यद्यपि वहाँ "अहं ब्रह्म" "इदं ब्रह्म" का प्रवाह है, तथापि है एकमात्र ब्रह्म।

वस्तु समूह का एक अलग सा प्रतिविम्ब आकाश में भी भासित हो रहा है। वह साधारण लोगों की दृष्टि का विषय नहीं है। कारण, वे वस्तुसमूह को शुद्ध दृष्टि से देख सकने में अक्षम हैं। वास्तव में यहाँ पर बिम्ब एवं प्रति-विम्ब, दोनों एकात्मभावेन विद्यमान हैं। साधारण जन कुछ भी समझ नहीं सकते। जिनको ज्ञान चक्षु की प्राप्ति हो चुकी है, वे इस प्रतिविम्ब को पृथक् रूप से देखने में सक्षम होते हैं। प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मादिक देवता किस की आराधना में निरत हैं? वे योगानुध्यान करते हैं। उनका ध्येय है ज्योति। वह दिव्यज्योति नहीं अपितु ब्रह्मज्योति है। ब्रह्मादिक देवगण की अपनी स्व-ज्योति है दिव्यज्योति। योगानुध्यान के समय उनकी दिव्यज्योति अस्तमित हो जाती है और ब्रह्मज्योति का आलोक छिटक उठता है। दिव्यज्योति का लोप (संकोच) होते ही वे ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

मनुष्य साधना करता है सिद्धि हेतु। संयम से उसकी अपनी प्रभा (रंग) विकिरित न होकर केन्द्रीभूत होने लगती है। उस स्थिति में उसे न तो जगत् का अनुभव शेष रह जाता है और न जगत् ही उसकी अनुभूति का लेशमात्र स्पर्श पा सकता है। वह स्वयं निमग्न रहता है, अपने उपास्य देवता की ज्योति का दर्शन करने में। द्वितीयावस्था में वह देवता का रूपदर्शन प्राप्त करता है। चरमावस्था में स्वयं देवमय हो जाता है।

देवमयता की दो अवस्था है। क्रिया साधना के समय वह देवमय अनुभूति प्राप्त करता है, अन्य काल में देवता साधक में स्थित रह जाते हैं। मात्र क्रिया काल में साधक देवता में स्थित रहता है। उस स्थिति में देवता ही योगानुध्यान में बैठे हैं, यह मानना चाहिए। इसके पश्चात् देवज्योति संकुचित हो जाती है, और ब्रह्मज्योति अपना प्रकाशन करती है।

भ्रूमध्यस्थ ज्योति



साधारण मनुष्य की स्थिति क्षिप्त एवं मूढ़भावापन्न है। उनके लिये किसी भी अन्तर्साधना की आलोचना अनावश्यक है। द्वितीय श्रेणी में वे साधक परिगणित हैं, जिनका चित्त सत्वगुण के प्रभाव से अन्तर्मुखीन होने लगा है, तथापि स्थायी अवस्था प्राप्त होने में विलम्ब है। इस श्रेणी के मनुष्य के लिये साधना की विशेष आवश्यकता है। साधना रूपी प्रयत्न से चित्तवृत्ति एकाग्र-भूमि में उपनीत होने लगती है। वह इसी भूमि पर उत्थित होकर कार्यशील हो जाती है। एकाग्रभूमि में उत्थायन हो जाने से विक्षिप्तता की परिसमाप्ति संभावित है। अब चित्त भी एक लक्ष्य में निविष्ट हो जाता है। लक्ष्यात्मक वस्तु का प्रकाश अनुभूति का विषय बनकर व्यक्तित्व को अभिसिंचित करता रहता है।

इस प्रकार की एकाग्रभूमि पर आरूढ़ होने के साथ-साथ अन्तर्ज्योति का उदय अवश्यंभावी है। ज्योति का उदय होते ही अव्यक्त एवं अप्रकाशित सत्व प्रकाशित होने लगता है। प्रथमावस्था में ज्योति का उदय सामयिक ही होता है। क्रमशः यह ज्योति स्थायी स्वरूप ग्रहण करने लगती है। इस स्थायित्व द्वारा ही निगूढ़ तत्व का क्रमिक प्रकाशन सम्भावित है। प्रकाश भूमि के अनन्तर निरोध भूमि स्थित है। एकाग्रता के पश्चात् निरोध तक संचरण परमावश्यक है। ज्योति का उदय अर्थात् ज्ञान (प्रज्ञा) का उदय। ज्ञान का उद्देश्य है ज्ञेय को प्रकाशित करना। ज्ञेय के प्रकाशन से आकांक्षा विनिवृत्त हो जाती है। अज्ञान की प्रक्रिया उपशमित होने लगती है। निरोध का प्रस्फुटन निरपेक्ष रूप से स्वयमेव होता है। एकाग्रभूमि के अभाव में निरोध भूमि कैसे आयत्त होगी? एकाग्रभूमि का भी अतिक्रमण करना चाहिये। एकाग्रभूमि के अभाव में निरोध प्रक्रिया अपनाने से चित्त प्रकृति में लीन होने लगता है। प्रकृतिलीनता असम्प्रज्ञात अवस्थान्तर्गत है। इस प्रकार की असम्प्रज्ञात अवस्था योगपद वाच्य नहीं है। जो असम्प्रज्ञात अवस्था सम्प्रज्ञात के पश्चात् प्राप्त

होती है, वही योगपद वाच्य है। ज्ञानोदय के पश्चात् ज्ञान का भी निरोध होना चाहिये। इस क्रम का अनुवर्त्तन होने से अज्ञान की एकान्तिक निवृत्ति का सम्पादन तथा उपशम स्थिति का प्रकाश होने लगता है। ज्ञानोदय न होने से उपरोक्त प्रकृति में लय का अर्थ है जड़त्व। जड़त्व से अज्ञान निवृत्ति कैसे हो सकती है? साधारणतया मनुष्य मात्र का चित्त चंचल है। यह चंचलता विक्षेपकारिणी है। लय एवं विक्षेप, योगपथ में अन्तराय रूप से परिगणित है। इनसे अग्रगति का ह्रास होता हैं।

साधनावस्था में भ्रूमध्यस्थ ज्योतिचिन्तना का अत्यधिक महत्व है। इस ज्योति का शुद्धीकरण अत्यावश्यक है। अतएव योगीगण नवोदित सूर्य की चिन्तना को अंगीकृत करते हैं। नवोदित सूर्य का अखण्ड मण्डलाकार रूप ही चिन्तनीय एवं उपादेय है। यही है विन्दु धारणा। विन्दु ही प्रकृत ज्योतिर्मय रूप से अनुभूति का विषय है। प्रतिदिन साधन काल में इस ज्योतिर्मय विन्दु की चिन्तना प्रत्येक के लिये हितकारी है। जागृत अवस्था में भी (सभी समय) यथाशक्ति विन्दु चिन्तन का अभ्यास फलदायक है। प्रारम्भ में कल्पित विन्दु होने पर भी यह है सवितृ-ज्योति का परिचायक। साधक इस शुद्ध ज्योति का निरन्तर दर्शन करते-करते एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। मनुष्य की चित्तजनित विक्षिप्तता में विकल्प की क्रीड़ा परिलक्षित होती है। विकल्प के दो प्रभेद हैं—शुद्ध एवं अशुद्ध। अशुद्ध विकल्प का त्याग तथा शुद्ध विकल्प में स्थिति होनी चाहिये। शुद्ध विकल्प ही निर्विकल्प परमपद का स्वरूप ग्रहण करता है। शुद्ध विकल्प की अवस्था में कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की यथार्थ उपादेयता है।

मातृकाओं से भाषा की उत्पत्ति होती है। उन्हीं से चिन्ता प्रवाह भी प्रसृत होता है। भाषा ज्ञान ही विकल्प ज्ञान का प्रारूप है। निर्विकल्प परमपद में भाषा का सर्वथा अभाव है। मातृका है वर्णसमष्टि। वर्ण भाषा में अंगीभूत रहते हैं। संसार की प्रत्येक भाषा मातृका से आविर्भूत है। मातृका अर्थात् विकल्प स्रोत। मातृकाओं की क्रियाशीलता रहते एकाग्रभूमि में प्रवेश पा सकना दुष्कर है। प्राचीन आचार्यगण इन मातृकाओं को विगलित कर एक विन्दुरूप में परिणत करने की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार एक पिण्डीकृत सुवर्ण से भली-भाँति विविध अलंकरणों का उद्भव होता है, वैसे एक ही विन्दु विभिन्न मातृकाओं के रूप में आत्मप्रकाश करता है। प्रत्येक भाषा

मातृका से आविर्भूत है। मातृका स्वभावतः विकल्प स्त्रोत है। मातृका के उद्भव में देश-काल का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह है अनादिकालीन प्रक्रिया। इस प्रक्रिया को विगलित करना आवश्यक है। मातृकायें विगलित होकर निर्विकल्प ज्ञान में सहायिका हो जाती हैं। षटचक्र की साधना का एकमात्र उद्देश्य है, मातृकाओं को भंग कर उन्हें एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित करना। मूलाधार से आज्ञाचक्र पर्यन्त समस्त चक्रों का निर्माण मातृकाओं से हुआ है। ये सभी चक्र इड़ा एवं पिंगला की सहायता द्वारा इसकी क्रिया में सहायक होते हैं। मातृकाओं के विगलन से विन्दु का गठन और उसकी ऊर्ध्वगति प्रारम्भ हो जाती है।

मातृका और विन्दु की मध्यवर्तिनी अवस्था है नाद। नाद अर्थात् अन्तर्मुखी प्रवाह। प्रत्येक चक्र की मातृका नाद रूप में परिणत हो विन्दु रूपा हो जाती है। यहाँ एक रहस्य का उल्लेख करना आवश्यक है। एकमात्र सुषुम्ना में ही ऊर्ध्वशक्ति की क्रिया संचारित रहती है। सुषुम्ना के अतिरिक्त सर्वत्र मध्याकर्षण निम्न प्रदेश की ओर खींचता रहता है। सुषुम्ना का साहाय्य लेने से अधोवर्त्ती चक्र की मातृका नादावस्था से विन्दुरूप तक की यात्रा समाप्त कर ऊर्ध्वगति में स्वयमेव चालित हो जाती है। इस प्रकार ऊर्ध्वगति होती है और ये मातृकायें आज्ञाचक्रस्थ सर्वोच्च विन्दु में अधिष्ठित हो जाती हैं।

अतीत एवं अनागत का अविर्भाव



किसी तेजोमय पदार्थ की प्रभा देश एवं काल पर चतुर्दिक पड़ रही है। इसी कारण किसी महापुरुष का आविर्भाव होने पर, जितनी दूर तक यह तेज विकीर्ण होता रहता है, उतने स्थान पर्यन्त उस आविर्भाव का आभास होता है। सूर्योदय के समय किरण व्याप्त प्रदेश पर्यन्त ही सूर्य की सत्ता का परिज्ञान होता है।

काल के साथ भी यह नियम है। किसी आविर्भाव के पहले यही जाना जा सकता है कि आविर्भाव होने वाला है। आविर्भाव के पश्चात् भी यह ज्ञात हो सकता है कि किसी सुदूरवर्त्ती अथवा निकटवर्ती भूतकाल में कोई आविर्भाव हुआ था। सूर्योदय से पूर्व अरुण वेला में सूर्योदय का पूर्वाभास संभव है। इसी प्रकार सूर्यास्त के पश्चात् गोधूली वेला का परिदर्शन करने से पूर्वकालीन सूर्योदय की सूचना प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार अतीत एवं अनागत के आविर्भाव की सूचना साधक प्राप्त कर सकते हैं।

व्यापक आलोक



एक व्यापक आलोक है। उसी एक आलोक में नाना प्रकार के खण्ड आलोक प्रतिभासित हो रहे हैं। ये नाना आलोक नाना प्रकार के धाम हैं। सबके मूल में व्यापक आलोक ही कारण है। धाम, नाम, रूप, लीला एवं आकृत गुण, सभी आलोक के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। व्यापक आलोक में सब कुछ होते हुये भी—यह सब प्राप्त कर सकना दुष्कर कार्य है।

आलोक में अनुप्रविष्ट होने से आलोक दर्शन नहीं होता। बाहर से (दूर से) आलोक को देखा जा सकता है। देखते-देखते, सर्वतोभावेन आलोकमय हो जाने के पश्चात् आलोक दर्शन नहीं होता। जो कुछ होता है, वह है रूप दर्शन। इसी कारण सालोक्यावस्था में ज्योति दर्शन नहीं किया जा सकता। वहाँ रूप दर्शन ही हो सकता है। सालोक्यावस्था में रूपदर्शन तिरोहित हो जाने की स्थिति में, तत्क्षणात् इसी आलोक में लीनता प्राप्त हो जाती है। रूप केन्द्र पर्यन्त स्थिति हो जाने पर रूपदर्शन नहीं होता। रूप की परावस्था की अनुभूति होने लगती है। यह है शक्ति का अनुभव। शक्ति से रूप का विकास सम्पादित होता है। शक्ति की परावस्था है, सत्ता या भाव। भाव के पश्चात् निर्गुण ब्रह्मसमुद्र लहराने लगता है। भाव ही इस समुद्र की तरंग है, कामभाव की विद्यमानता में रूप दर्शन कैसे होगा? काम जय का उपाय है,

एकमात्र ज्योति दर्शन। ज्योति देखते-देखते कामादि विकार एवं वृत्तिरूपी संस्कार शुद्ध हो जाते हैं।

कैवल्य दर्शन



एक विराट ज्योति स्फटिकवत् सर्वत्र छिटकी हुई है। यही है ब्रह्मज्योति। समस्त देवलोक इसी ज्योति में भासित होते रहते हैं। देवलोक भी एक प्रकार का आलोक है। सब में रंग (वर्ण) जनित वैचित्र्य प्रतिच्छवित होता रहता है। विवेक पथ का आश्रय लेकर कैवल्य पथ पर संचरण करते-करते इस व्यापक ब्रह्मज्योति में अपनी ज्योति को मिलाया जा सकता है। प्रारम्भ में अपनी ज्योति इस ब्रह्मज्योति से मिलित नहीं होती। एक प्रकार से यह भी कह सकते हैं कि यह व्यापक आलोक ही निजालोक रूप से प्रतिभासित होता है। इसके चारो ओर शून्य की वेष्ठनी अनुभूत होती है। यह निजालोक स्वप्रकाश रूप है। सांख्याचार्य इसे कैवल्य कहते हैं। उपरोक्त शून्य ही मूला (प्रकृति) है। यह आलोक है द्रष्टा या पुरुष।

क्रमशः निज का आलोक इस व्यापक आलोक से मिलित हो जाता है। अर्थात् व्यापक आलोक ही स्थित रह जाता है। अब निज का (साधक का) आलोक अपने वैचित्र्य का पूर्ण परिहार कर व्यापकालोक रूप से स्थित है। यही है ब्रह्म कैवल्य। आलोक की परावस्था में उपरोक्त दोनों प्रकार के कैवल्य में कोई प्रभेद नहीं रहता। यही है पूर्णावस्था।

इस प्रकार की कैवल्य स्थिति प्राप्त साधक आत्मनिष्ठ हैं। वे सांसारिक नियमन एवं क्रीड़ा में भाग नहीं ले सकते। इसके विपरीत जो निजालोक में वैचित्र्य का परिहार नहीं करते अपितु उसके स्वाभाविक वैचित्र्य का स्फुरण एवं प्रसारण करने में समर्थ होते हैं, वे एक-एक लोक या क्षेत्र के केन्द्र स्वरूप हो जाते हैं। यह क्षेत्र है, बुद्ध-क्षेत्र रूपी दिव्यालोक। सभी दिव्यलोक व्यापक आलोक में समुद्रमध्यस्थित द्वीपपुंज रूप से भासित हो रहे हैं। उसमें

मिश्रित नहीं हैं। खण्ड भक्तिपथ के पथिक अपनी प्रीति तथा रुचि के अनुसार अपने-अपने इष्टलोक की प्राप्ति करने के पश्चात्, वहीं विराजित रहते हैं। केन्द्र का आश्रय लेकर इन सब लोक समूह में प्रवेश हो सकता है। केन्द्रस्थ देवता तथा भक्तगण, क्रमशः वहाँ के ईश्वर तथा जीव हैं। देवता तथा भक्त का पारस्परिक व्यवधान अस्तमित होते ही, चरम स्थिति में मात्र एक भाव शेष रह जाता है। समस्त भक्तगण अपने केन्द्रस्थ देवरूप में परिणति प्राप्त करते हैं। यह भाव की अवस्था है। व्यापक आलोक में इस प्रकार के असंख्य भाव समूह प्रतिभासमान हैं। वे एक महासमुद्र की उच्छ्वलित तरंग की भाँति अनुभूत होते रहते हैं। उपरोक्त असंख्य भाव समूह एक महाभाव रूप में परिणत हो जाते हैं। महाभाव और व्यापक आलोक, दोनों समानार्थक शब्द हैं। दोनों ही व्यापकतम हैं। यह युगल-स्वरूप हैं, मानो एक ही वस्तु के उभय पृष्ठ।

इस व्यापक आलोक में प्रवेश करने पर उसके साथ यथार्थ मिलन सम्पादित हो सकता है। यथायथ प्रवेश न होने पर लय हो जाता है। लयावस्था होने पर निजालोक मात्र अवशिष्ट रह जाता है। उसमें व्यापकत्वानुभूति का अभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता रहता है।

तृतीय नेत्र



आज्ञाचक्रस्थ विन्दु में अधिष्ठित होने से प्रज्ञा ज्योति विकसित होती है। यह शास्त्रों में वर्णित दिव्यचक्षु अथवा तृतीय नेत्र है। इस तृतीय नेत्र का उदय होने के पश्चात् चर्मचक्षु का आकर्षण समाप्तप्राय हो जाता है। जिनका दिव्यनेत्र उन्मीलित हो गया है, उनके लिये प्राकृत जगत् का यथार्थ अस्तित्व समाप्त हो जाता है। जो चर्मचक्षुओं द्वारा परिचालित है, उसके लिये दिव्य-नेत्र का संधान अत्यन्त कठिन कार्य है। ज्योतिर्चिंतना का सतत अभ्यास करते रहने से अन्तराकाश में चिन्मय रूप प्रस्फुटित होता है। इस स्थिति में लौकिक अवस्थानुरूप बाह्य जगत् का आभास तिरोहित रहता है। अन्तराकाश

एवं अन्तर्जगत् का प्रस्फुटन होना प्रारम्भ हो जाता है। बाह्य आकाश से तात्पर्य है भूताकाश एवं चित्ताकाश। सांसारिक अवस्था में इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् अनुभूत होता है। इसमें रूप-रसादि से परिवेष्ठित अनन्त बहिर्जगत् प्रकाशित है। चित्तवृत्ति की किंचित अन्तर्मुखता में स्वप्नावस्था का उदय होने से स्वप्नमय जगत् की स्थिति आती है, तत्पश्चात् घोर अज्ञानमय अवस्था में हृदयस्थ सुषुप्ति में, सुप्तता की अनुभूति सर्वविदित है। इसी का आवर्तन है संसार चक्र। गुरुकृपा द्वारा इस आवर्तन से छुटकारा मिलता है और अपनी ऊर्ध्वगति अनुभूति में आती है। यह शुद्ध जगत् के प्रस्फुटन की पूर्व सूचना है। इसमें आनन्दोदय एवं ऊर्ध्वशक्ति संकर्ष अवश्यम्भावी है। अन्तःस्थित जगत् में निरन्तर ऊर्ध्वशक्ति का चालन हो रहा है। भविष्यत् में यह चिदाकाश रूप से विकसित होता है। चिदाकाश रूप विकसित होने के पश्चात् ही देहात्मबोध की परिसमाप्ति होती है। मन और प्राण की क्रिया निःशेष हो जाती है।

पूर्णत्व पथिक का तृतीय नेत्र एवं चर्मचक्षु, दोनों उन्मीलित रहता है। तृतीय नेत्र की प्राप्ति के साथ-साथ जिनके चर्मचक्षु निमीलित हो जाते हैं, वे हैं देवता। तृतीय नेत्र के उन्मीलन काल में सबकी यही अवस्था होती है। देवगण में एकमात्र शिव के तीन नेत्र का वर्णन है। शिव परिवार के भी तीन नेत्र हैं। अन्यान्य सभी देवगण में मात्र एक नेत्र कार्य करता है। उनके लौकिक नेत्र कार्य नहीं करते। जब तीनों नेत्र कार्य करते हैं, तभी पूर्णत्व का पथ उन्मोचित होता है। वास्तव में सभी देवताओं को एक ही नेत्र है। शोभा के लिये दो चक्षु अंकित किये ज़ाते हैं। साधारणतया साधकगण भी दिव्यचक्षु प्राप्ति के पश्चात् एकचक्षुधारी हो जाते हैं। वे सदैव दिव्यभावापन्न रहते हैं। लौकिक भावापन्न नहीं रहते। उनमें देहात्मबोध भी नहीं रहता। देहात्मबोध मायिक जगत् का बोध है। पूर्णत्व के लिये दिव्यबोध एवं मायिक बोध दोनों आवश्यक हैं। उभय अनुभव की पूर्ण प्रकाशमानता पूर्णत्व पथिक का सम्बल है। वे जीव होने पर भी शिव हैं। शिव होने पर भी उनमें जीवभाव की विद्यमानता है। वे जीव की प्रत्येक अवस्था से परिचित रहते हैं। ज्ञान का पूर्ण विकास इसी स्थिति में संभव है। पूर्ण-योगी के तीनों नेत्रों का सुविकसित होना अत्यावश्यक है।

दर्शन क्रम



सर्वप्रथम ज्योतिदर्शन, उससे पूर्व देहात्मबुद्धि का लोप। अब ब्रह्मावस्था का उदय होता ह, तत्पश्चात् ज्योति के बीच विन्दु एवं विन्दु वृत्त की सीमा रेखा परिलक्षित होती है। इसके पश्चात् विन्दु में मूर्ति का प्रकाशन होता है। ज्योति की घनीभूतता से मूर्ति का आविर्भाव, यह है परमात्मावस्था।

इसके अनन्तर मूर्ति स्पष्टतया परिलक्षित होती है। ज्योति का क्रमिक अवसान होने लगता है। चौंसठ कला की पूर्ण परिपक्वावस्था के पश्चात् ज्योति अवशिष्ट नहीं रहती। यह है पूर्णावस्था की प्राप्ति। एक से उनचास कलापर्यन्त जीवकोटि की अवस्था है। पचासवीं कला जीव की श्रेष्ठतम अवस्था के रूप में परिगणित है। ५१ से ५६ तक परमात्मावस्था है, अर्थात् इस स्थिति में माया परमात्माधीन है। ५६ से ६० कला पर्यन्त अत्यधिक विकास होता है। माया अस्तमित होकर विलीन होने लगती है। ६४ कला पूर्ण होने पर माया भी पूर्णतया तिरोहित हो जाती है।

अन्तर्दृष्टि, एक ही दृष्टि की दूसरी दिशा है। बहिर्दृष्टि खण्ड होती है। अन्तर्दृष्टि अर्थात् व्यापक दृष्टि। अन्तर्दृष्टि प्राप्ति के पश्चात् जड़वाद या अध्यात्मवाद जैसी पृथक् स्थिति का लेश भी नहीं रहता। यह स्थिति तृतीय नेत्र उन्मीलित होने के पश्चात आयत्त होती है। मनुष्य इन दोनों नेत्रों द्वारा खण्डभावेन देखने का अभ्यस्त है। अखण्ड-भाव से देखने के लिये तृतीय नेत्र रूपी अन्तर्दृष्टि का उन्मीलन परमावश्यक है। तृतीय नेत्र से भूत-भविष्य-वर्तमानात्मक समस्त दृश्य अनुभूत होते हैं। हमारी इन भौतिक नेत्रों की दृष्टि वक्र है, अतएव खण्ड-दृश्यसत्ता की अनुभूति होती है। आज्ञाचक्र के ऊपर एक ऐसा स्थान है जहाँ से सब कुछ देखा और सुना जा सकता है। सर्वप्रथम ज्योति, तत्पश्चात् मण्डलाकृति, सर्वान्त में विन्दुदर्शन होता है। तदनन्तर मूर्ति गठित होती है। इस मूर्ति को हम गुरु भी कह सकते हैं, अथवा माँ भी कह सकते हैं। इस स्थान से बाहर दृष्टि निक्षेप करने पर देहात्मबोध विलुप्त

हो जाता है, आवरण भंग होता है और साधक अपने स्वरूप को देख सकता है। यह मूर्ति ही यथार्थ विग्रहतत्व है। इस विग्रह में साधक का लय एवं प्रवेश भी संभव है। प्रवेश के पश्चात् दोनों एक हो जाते हैं।

जीव के लिये लय एवं प्रवेश अभिप्रेत नहीं है। उसके लिये प्रयोजनीय है—द्वैत, आस्वादन हेतु। इस विन्दु पर स्थित होने के पश्चात् देहबंधन नहीं रह जाता। मात्र चेतना की क्रीड़ा चलती रहती है। यह विशुद्ध चैतन्य है बोध। इस स्थिति में अनुभूत होता है कि समस्त विश्व ज्योति सागर में प्रभासित है। काल रूपी भूत, भविष्य, वर्तमान अस्तमित हो जाते हैं। सबके साथ एकात्मिकता सुप्रतिष्ठ हो जाती है। व्यक्तिभेद, जातिभेद, मतभेद इत्यादि कालराज्य का व्यापार शेष नहीं रहता।

देवता



देवता को पुकारते ही उसे आसन, पाद्य, भोज्य देना होता है। यद्यपि यह सब मानसिक रूप से देना होता है। देवता जब अव्यक्त रहते हैं, तब तक कुछ भी नहीं चाहते। व्यक्त होते ही सब आवश्यकता पड़ती है। व्यक्त होकर जागरण की अवस्था में वे हमारी प्रार्थना सुनते हैं और उत्तर भी देते हैं।

देवता को पुकारने का दो तात्पर्य है। प्रथमतः सम्बोधन या जागरण, अव्यक्त का व्यक्तीकरण। द्वितीयतः अभिमुख्य सम्पादन। तत्पश्चात् कथावार्ता-भाव विनिमय। सत्वशुद्धि के साथ-साथ देवनिद्रा भंग हो जाती है। अपनी निद्रा भी भग्न हो जाती है। दोनों एक ही स्थिति की ओर का संकेत मात्र है। एक वार सत्वशुद्धि के पश्चात् (जागरण पश्चात्) पुनः जागना या बुलाना नहीं पड़ता। सर्वदा जागृति रहती ही जागृति है। प्रयोग करना या न करना स्वेच्छाधीन रहता है।

इस स्थिति में बाहर भी ज्योति रहती है। अपनी अव्यक्तावस्था में वह आत्मतत्व में निहित रह जाती है। अव्यक्त ज्योति अप्रकाशित है। वहाँ चित्-

शक्ति में अभेद है। जब ज्योति बाहर पड़ती है (सत्व में पड़ती है) तब वह प्रकाशमान संज्ञा से विभूषित हो जाती है। उसमें आकार गठित होने लगता है।

भीतर से बहिः प्रदेश में संचरित होती ज्योति को देखा नहीं जा सकता। वह शक्ति होने पर भी ज्योति अथवा प्रकाशरूप नहीं होती। सत्व में आते ही उसका ज्योतित्व प्रस्फुटित हो जाता है। विशुद्ध सत्व केन्द्रस्थ है। उसकी प्रभा विकीर्ण नहीं होती। जैसे सर्चलाइट है, सर्वदा एकाग्र, संहृत। सत्व के बाहर की सीमा है, रजोवलय। वहाँ कण-समष्टि रूप में ज्योति का आभास प्राप्त होता है। जहाँ तक आभास रूप से ज्योति विकीर्ण हो रही है, वह क्रमशः तमोवलय रूप होता जाता है। वहां पहले तो मिश्रित अन्धकार है, तत्पश्चात् है गम्भीर अन्धकार।

मनुष्यमात्र देवता है। विशुद्ध सत्व में वह षोडश वर्षीय या तदन्तस्थ आयु-धारी है। यह है उसका स्वाभाविक शरीर। वृद्ध भी जब जगदम्बा की गोद में स्थित हो जाते हैं, तब वे भी बालक जैसे लगते हैं।

आहार



देवता जागृत होते ही खाद्य की कामना करते हैं। यदि खाद्य न मिले तो पुनः निद्रित हो जाते हैं। खाद्य, आहार्य, जीवन धारण का अवलम्बन—सब समान अर्थात्मक हैं। पूजा, ध्यान, जप, सत्कार, चिन्तन—देवता का खाद्य है। आलम्बन एवं विषय खाद्य होता है। यह है आधार। निराधार देवता (चैतन्य) अव्यक्त है। उसकी उपासना नहीं होती, उसे आहार की आवश्यकता भी नहीं, कारण, वह निष्क्रिय है। सत्ता का संरक्षण अर्थात् क्रिया सम्पादन। इसके लिये आधार एवं आहार अत्यावश्यक है।

सत्वसत्ता में चैतन्य का स्फुरण अपेक्षित है। चैतन्य का स्फुरण, संघर्ष (रजः) एवं आहार (तमः) सापेक्ष है। जब तक रजः तमः का सम्बन्ध नहीं होगा, तब तक सत्व द्वारा चैतन्य धारण नहीं हो सकता। चैतन्य इस स्थिति

में आहार विवर्जित हो जाता है। व्यक्त चैतन्य को आहार चाहिये। रजः, तमः एवं मन ही उसका आहार है। आहार न मिलने से व्यक्त चैतन्य भी अव्यक्तावस्था में निद्रित हो जाता है। उस समय सत्व की स्थिति भी असत्कल्प हो जाती है। संक्षेप में मूला प्रकृति (शून्य) में सत्व का अव्यक्तीकरण सम्पादित होता है, कारण वहाँ रजः एवंतमः का सम्बन्ध नहीं है।

वस्तुतः सत्व की व्यक्तावस्था हमारा अभिप्रेतार्थ है। व्यक्तावस्था चाहते हैं, तथापि वहाँ रजः, तमः नहीं चाहते। अव्यक्त सत्व चैतन्यधारण में असमर्थ होने के कारण असत्कल्प है। यद्यपि व्यक्त सत्व चैतन्य को व्यक्त रखता है, तथापि उसमें रजः एवं तमः का मिश्रण है। वह अनित्य एवं हेय है। प्रथम है जड़ समाधि (अव्यक्त चैतन्य)। वह हमारा ईप्सित नहीं। उसमें ज्ञान नहीं रहता। द्वितीयावस्था (व्यक्तावस्था) है वृत्तिज्ञान (सविषयक)। वह भी हम नहीं चाहते। यद्यपि उसमें ज्ञान है, तथापि सान्त होने के कारण दुःखपूर्ण है। सुख है, तथापि वह दुख सम्भिन्न सुख है।

हमारा ईप्सित है :—

(१) चैतन्यमय दुःख निवृत्ति, यह शुद्धसत्व में (निर्मल, स्थिर सत्व में) सम्भव है।

(२) आनन्द एवं अनुकूल बोध, यह तभी सम्भव होगा जब शुद्धसत्व में प्रवाह होगा, अथच प्रवाह आत्ममुखी हो। आत्ममुखी प्रवाह का नाम है आनन्द।

अन्धकार-प्रकाश



मनुष्य विराजित है, अन्धकाराच्छन्न स्थिति में। यह अज्ञानजनित आवरण उसके स्वरूप का आच्छादन करते हुये विद्यमान है। वह जिस आलोक का यत्किंचित प्रकाश पाता है, वह बाह्य आलोक है। स्वरूप का आलोक नहीं है। चन्द्र-सूर्य-अग्नि-विद्युत-नक्षत्रावली आदि का आलोक बाह्य आलोक मात्र है। मनुष्य का आन्तरिक अन्धकार इन सब आलोक द्वारा तिरोहित नहीं होता। अन्धकार और आलोक की वार्ता कोई रूपक नहीं, अपितु वास्त-

विक स्थिति का लौकिक प्रकाश है। मनुष्य आखें वन्द करने पर एक अन्धकाराच्छन्न स्थिति का परिचय प्राप्त करता है, जहाँ किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। वाहर का अत्यन्त उज्ज्वल आलोक भी अन्तःस्थित इस अन्धकार राशि का भेद नहीं कर सकता। वाह्य आलोक वाहर की वस्तु है। उससे केवल वाह्य पदार्थ आलोकित हो सकते हैं। वाह्य प्रकाश कभी भी अभ्यन्तरीण प्रकाश का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। अभ्यन्तरीण प्रकाश है, आत्मा का अपना आलोक। यह वाह्य प्रकाश से सर्वथा निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र है। इसका प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अनुभव कर सकता है। चक्षुद्वय वन्द करने पर जिस अन्तहीन अन्धकार का दर्शन होता है, उसका रहस्य अत्यन्त विचित्र है। इसके रहने तक प्रत्येक मनुष्य एक व्यापक अन्धकार में निमज्जित है। यह कोटि-कोटि जन्मार्जित संस्कार जनित पुंजीभूत तमः स्वरूप है, जिसे वैज्ञानिक Subconscious एवं Unconscious कहते हैं। यह अन्धकार ज्ञान द्वारा अपसारित होता है। अपसारित होते ही देहात्मभाव की समाप्ति हो जाती है। विचार द्वारा देहात्मबोध एवं प्रकृत मोह का अपसारण असम्भव है। सद्विचार के प्रभाव से देहात्मबोध को स्तम्भित किया जा सकता है, किन्तु ज्ञान के सम्यक् उदय होने तक उसका नाश कैसे होगा ?

यह दिगन्तव्यापी अन्तरान्धकार हमारी सत्ता को आवेष्ठित कर विद्यमान है। चित्तशुद्धि (ज्ञानोदय) के पश्चात् इसका प्रभाव समाप्तप्राय हो जाता है। यह अन्धकार विकल्प समष्टि मात्र है। अतः इंसके अवस्थान काल पर्यन्त हमारी स्थिति विकल्प भूमि तक ही होती है। दार्शनिक विचार द्वारा देहात्मबोध स्तम्मित अवश्य होता है, किन्तु अनुभूति में देहात्मबोध रहित अवस्था प्राप्त नहीं होती। जिनकी दृष्टि खुल गई है, वे यह स्पष्ट देखते हैं कि चित्तशुद्धि होने के पश्चात् वाहर और भीतर एकमात्र चिदालोक विराजित है। ज्ञानीजन किसी को देखकर यह जान सकते हैं कि यह व्यक्ति चिदालोक से परिव्याप्त है अथवा नहीं। योगी आन्तरिक क्षेत्र में स्वयं को इस विशाल आलोक मण्डली में सर्वदा स्थित देखता है। आलोक मण्डली अन्य कुछ नहीं, चिदालोक से आलोकित चिदाकाश मात्र है। यही है शास्त्रवर्णित प्रभामण्डल का स्वरूप। इस प्रकार के व्यक्ति में देहात्मबोध नहीं रहता, तथापि वे लोक शिक्षण हेतु मध्याकर्षण शक्ति का आश्रय लेकर देह के माध्यम से व्यवहार करते रहते है। उनमें केवल खेचरी शक्ति क्रीड़ारत रहती है। खेचरी, भूचरी तथा दिक्चरी शक्ति योगी की

स्वेच्छाधीन शक्तियाँ हैं। इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रत्येक मुक्त पुरुष एक ज्योतिर्मण्डल के मध्य अवस्थित से प्रतीत होते हैं। अन्तरालोक का प्रस्फुटन होने पर ग्रहीतृभाव या ग्राहकत्व नहीं रह जाता। स्वयं का भी दर्शन पर प्रमाता रूप से होता है। परप्रमातृ भाव का उदय होने पर इस समग्र विश्व की अपने ही अन्दर अनुभूति होने लगती है। आत्मा में शिवत्वानुभूति के पश्चात् यह विश्व बाहर नहीं रहता, अपितु परप्रमाता के अन्तर्भुक्त हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार होने के पश्चात् जिस प्रकार अन्तराकाश में आलोकानुभूति होती है, उसी प्रकार बाह्य विश्व में भी पूर्णप्रकाशमय अहंरूप का अनुभव होने लगता है। यही है प्रेमराज्य।

अन्धकार वासना एवं संस्कार की समष्टि है। यह प्रत्येक देहधारी में विद्यमान है। जन्म जन्मान्तरीण समवेत कर्मसंस्कार उसमें निबद्ध हैं। ये सब वासनानुरूप एवं कर्माशय रूप होते हैं। जन्मक्रमानुसार क्रमबद्ध रूप से आवर्त्तनोन्मुखता परिलक्षित होती है। वासना एवं संस्कार वायु द्वारा परिचालित होते हैं। इन सब संस्कारों से मनुष्य के स्वसंचित कर्मों का संधान मिलता है। कर्मसंस्कारों में स्तर-स्तर पर काल का आवर्त्त स्पन्दित होता रहता है। इसकाक्रम अत्यन्त दुर्लक्ष्य है। इसको देखने की शक्ति प्राप्त होते ही लक्ष-लक्ष जन्मान्तर का संस्कार प्रत्यक्ष हो जाता है। पहले इनके द्वारा अन्तर्दृष्टि आच्छन्न सी रहती है।

मनुष्य में हृदय अत्यन्त रहस्यमय स्थान है। इसकी एकमात्र उपलब्धि होती है—अन्तस्थ शून्य (आकाश) में। यह आकाश वायुमण्डल द्वारा आच्छादित है, अतएव मनुष्य को उसका संधान नहीं मिलता। यह चित्तशुद्धि के पश्चात् वायुहीन होकर उज्ज्वलरूप से प्रकाशित होने लगता है। इसी स्थिति का नाम है "अन्तर्देवता का आविर्भाव"।

उपरोक्त परप्रमातृ अवस्था में सब कुछ अहं रूप से प्रकाशित है। देश और काल एक हैं। इच्छानुरूप स्फुरण होने पर देश एवं काल स्व-स्वरूप में प्रकाशित होने लगते हैं। इस प्रकाशन से पूर्ण अहं भंग हो जाता है और उसके एकांश में परिच्छिन्न प्रमाता रूपी मायिक द्रष्टा का उदय होता है। इस स्थिति के अन्यांश में मायिक प्रमातारूपी प्रमेय का उद्भव होता है। यह प्रमेय है शून्य। यह है भविष्यत् विश्व का आधार। प्रमाता और प्रमेय की विद्यमानता से सम्बन्ध का सृजन होता है। इस प्रकार अपरिच्छिन्न चिदालोक में इच्छा-शक्ति के प्रभाववश देश और काल के सहयोग से

विश्वचित्र का आविर्भाव अनुभूत होने लगता है। विश्व में देश-काल की विचित्र क्रीड़ा चलने लगती है। विश्वातीत स्थिति में एकमात्र अखण्ड अहं विराजित रहता है। निमीलन समाधि में विश्व तिरोहित होकर विश्वातीत सत्ता में मिलित हो जाता है। संसार चक्र प्रतिष्ठित है देहात्मबोध की भित्ति पर। एक मात्र पूर्ण प्रकाश स्थली है 'हृदय''।

वास्तविक सूर्य



बहिर्गत होने पर ही कोई किसी को देखने में समर्थ हो सकता है। यह सूर्य भौतिकदृश्य हैं अतः वे बाह्य हैं। वे किरण रूप मे विकीर्ण हो रहे हैं। रश्मिरूप से अपना आत्म प्रकाशकर रहे हैं, तभी उन्हें देख सकना संभव हो रहा है, अन्यथा वे इन्द्रियगोचर नहीं हो सकते। वास्तविक सूर्य में रश्मियों का विकिरण नहीं है। अतः वे दृश्य नहीं हैं, उन्हें देख पाना संभव नहीं होता। वे हैं स्वप्रकाश आत्मा। जब सूर्य दृश्य हैं तब द्रष्टा लिंगात्मा (देहधारी) है। शुद्धात्मा है, दोनों का साक्षी। साक्षी ही परमात्मा है। प्रकृत सूर्य का तात्पर्य है आत्मा। आत्मा से संलग्न एक स्तर है। उसका नाम है शुद्धसत्व। शुद्धसत्व की वाह्य दिशा में मिश्र-सत्व अवस्थित है। शुद्धसत्व है एकरस, सदा युक्त। वहाँ विकिरण की सत्ता ही नहीं है। मिश्रसत्व अनेकानेक हैं। वह ऊर्ध्वमुख, एकमुख, निम्नमुख एवं वहुमुखी है। अपने एकमुख से मिश्रसत्व तेज को ग्रहण करता रहता है तथा अन्य मुखों से छोड़ता रहता है। यह बहुमुखता रजोगुण के कारण है। इसके भी बाहर की ओर, जहां तेज का लय हो जाता है वहां तमः का अवस्थान है। मिश्रसत्वरूपी जगत् का जो सूर्य है, वह दृश्य रूप है। प्रकृत सूर्य नहीं है। उसका छाया मात्र है। इसी मिश्रसत्व के कारण जगत की स्थिति है, अन्यथा जगत की तक्षण विलीनता सम्पादित हो जाती।

अणु-महत्, असीम-ससीम



असीम में विरोधाभास नहीं रहता। सीमा का उदय होते ही दो पारस्परिक विरोधी शक्ति का द्वन्द्व परिलक्षित होता है। अन्तर्मुख-बहिर्मुख, केन्द्रमुख-वाह्यमुख, विद्या-अविद्या, अच्छा-बुरा, छोटा-बड़ा इत्यादि सीमा वाचक स्थिति है। विरोध से वैषम्य सृजित होता है। सीमा का तात्पर्य है मध्यम परिणाम, अर्थात् अणु से महत् के वीच की स्थिति। सीमा में व्यक्तता रहती है। असीम तो नित्य अव्यक्त है।

संकोच की सबसे अंतिम सीमा है अणुत्व। प्रसार की सबसे विशद् सीमा है महत्। महत् से अतीत होते ही असीमत्व है। वहां न संकोच है न प्रसार।

प्रत्येक वस्तु में विरोधी शक्ति की क्रीड़ा चलती रहती है।

ऊर्ध्वारोहण



ऊपर उठते समय नीचे की वस्तु का सारतत्व लेना आवश्यक है। सारतत्व साथ लेकर ऊपर उठना चाहिये। यह प्रक्रिया ब्रह्मचक्र पर्यन्त चलती रहती है। ब्रह्मचक्र में प्रवेश होने के पश्चात् कुछ भी असार नहीं रह जाता। वहाँ आनन्द सार रूप से विद्यमान है। वहां की गति भी सरल गति है। Infinite में सरल रेखा का निःक्षेप करने पर भी वह चक्राकार हो जाती है। इसी का नामान्तर है "रास"। अतः सहस्त्रार चक्राकार (Circular) गतिशील है। जहाँ अगति है वह है विन्दु।

चैतन्य को घेरकर शुद्धसत्व स्थित है। यही है विन्दु (= महामाया)। विन्दु में क्षोभ होता है। उसकी तरंगे हैं नाद एवं कला (अणु)। शुद्ध तमः

का भी क्षोभ होता है। शुद्ध तमः माया का नामान्तर है। उसकी तरंग हैं पंचमहाभूत के अणु, अर्थात् Particles of Matter.

स्थूल-सूक्ष्म-कारण दर्शन



जागतिक (साधारण) दर्शन के समय चित् की प्रभा मन पर पड़ती है। मन की प्रभा चक्षुपर निपतित होती है। चक्षु की प्रभा आकर पड़ती है विषयों पर। जब किसी वस्तु को देखते-देखते मन तन्मय हो जाता है, तब चक्षु की प्रभा एकत्रित होकर विषयाकृति हो जाती है। मन की प्रभा भी विषयाकृति धारण कर लेती है। अर्थात् जब चक्षु की प्रभारेखा और मन की प्रभा रेखा समानान्तर हो जाती है, समसूत्रता में आवद्ध हो जाती है, उस स्थिति में बाहर से वस्तु हटा लेने पर भी उसका दर्शन होता रहता है। उस स्थिति में विषयाकार चित्र ही दृष्ट होता है। उस समय जो देखा जाता है, वह है मनोमय अथवा भावमय। इसी प्रकार जब मन एवं अज्ञान, दोनों समसूत्रता में आवद्ध हो जाते हैं, उस स्थिति में दृश्य भी अज्ञानमय हो जाता है। जगत् भी अज्ञानमय प्रतीत होने लगता है। इस अवस्था का अतिक्रमण हुये विना जगत् का चिन्मयत्व ज्ञात नहीं होता।

जगत एवं आकाश



स्थूल अवस्था में बाह्य जगत इन्द्रियों का विकार है। सूक्ष्मावस्था में वह मानसिक विकार है। कारण अवस्था में वह है अज्ञान का विकार। इसके पश्चात् अर्थात् इन स्थितियों का अतिक्रमण करने के पश्चात् बाह्य जगत आत्मविलास सा प्रतीत होता है।

इन्द्रियों की प्रभा चतुर्दिक पड़ रही है। उसमें तरंगे उठ रहीं हैं। यही है बाह्य जगत। इन्द्रियों की प्रभा है भूताकाश। प्रभा ५ हैं। इन पाँचों की समष्टि का ही नामान्तर भूताकाश है। इसका अतिक्रमण करने पर चित्ताकाश की उपलब्धि होती है। चित्ताकाश की तरंगों का नाम है भाव। ये साकार तरंगें हैं। चित्ताकाश में निस्तरंगता विद्यमान रहने पर भूताकाश में भी निस्तरंगता रहती है।

इसके अनन्तर कारण विन्दु की अवस्थिति है। यह है अव्याकृत आकाश। कारण विन्दु में तरंग उठने पर ही चित्ताकाश तरंगायित होता है। कारण विन्दु तरंगायित होता है, महाकारण विन्दु में स्वातन्त्र्यस्पन्दन से। कारण विन्दु में कम्पन का अर्थ है प्रयोजन अथवा अभाव बोध। स्वभाव के अभाव का उन्मेष। इसका स्वरूप है प्रार्थना अथवा इच्छा। उदाहरणार्थ इच्छा उठती है "मुझे फूल चाहिये"। यह अत्यन्त अस्फुट इच्छा है। इसके मूल में अज्ञान की सत्ता है। कारण विन्दु में कम्पन के कारण अभाव का उन्मेष हुआ है। यह उन्मेष है इच्छा का उन्मेष। यह बीज है। यह अभाव बोध चित्ताकाश तक अवरोह करता है। वहाँ यही भाव रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। यह भाव रूप चित्त की विशेष तरंग के समान है। यह भाव तरंग भूताकाश पर्यन्त उतर कर स्थूल अथवा भौतिक पदार्थ की सृष्टि करती है। पूर्वोक्त कारण अब कार्यभाव में अपना आत्मप्रकाश करता है। यह है अभाव से भाव पर्यन्त की यात्रा। प्रार्थना की पूर्णता तथा इच्छा इच्छाशक्ति की फलप्रसूति, इसी का नामान्तर है। इसे सृष्टि रहस्य भी कह सकते हैं। इस विवरण से भूताकाश में देवाविर्भाव के रहस्य का परिज्ञान हो सकता है।

आनन्द



मैं एक घट देख रहा हूँ। देखते-देखते तन्मय होने पर दो अवस्थाओं की उपलब्धि होती है :—

(१) देखते-देखते बोध खो जाने पर "मैं" ही घट रूप हो जाता हूँ। अर्थात्

मेरा चित्त घटाकार है, परन्तु मैं बोध लुप्त हो जाने के कारण अचेतन हूँ। इसलिये स्वयं घटरूप हो जाता हूँ।

(२) यदि बोध अवशिष्ट है, उस स्थिति में मेरा चित्त घटमय हो जाता है। मैं उसका द्रष्टारूप अलग विद्यमान रहता हूँ। बोध युक्त होने के कारण मैं चेतन हूँ। इस स्थिति में मैं घटरूप होने पर भी उससे पृथक् हूँ। यही समाधि है। घटाकार चित्त दृश्य है, लिंग, तथा द्रष्टा (चित्र) है कारण। इन दोनों के मिलन से आनन्द उद्रिक्त होता है। फल है द्वैत लोप।

चित्त को किसी भी इष्टरूप में प्राप्त किया जा सकता है। मैं उसका द्रष्टा (दृश्य का भोक्ता) रूप स्थित रहता हूँ। दोनों का मिलन होनेपर आनन्द उमड़ उठता है। उपरोक्त घटाकार चित्त की तरह विश्वरूप चित्त का भी दर्शन सम्भव है। इस स्थिति में द्रष्टा कारण है। वह जो कुछ देखता है, वह सब ज्ञानमय है। वह जिस दृश्य जगत् को देखता हैं वह है साकार ज्ञान का समूह।

इस साकार ज्ञान समूह के अन्तराल में निराकार की सत्ता है। उस स्थिति में द्रष्टा एवं दृश्य एक रूप से मिलित हो जाते हैं। इसी विस्तृत ज्ञान का नाम है आनन्द।

वज्रमय दर्शन



एक दीप कलिका को देखता हूँ। इसकी प्रभा चतुर्दिक विकीर्ण हो रही है। यह देखना, सम्यक् देखना नहीं है। दोषपूर्ण दर्शन है। कारण दीपप्रभा विक्षिप्तावस्था में विद्यमान है। उसकी ज्योति हिलती रहती है। यह विक्षिप्तता उपसंहृत होने पर हिलती हुई ज्योति मानों दीपकलिका में लौट आती है और चतुर्दिक कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसे अन्धकार अथवा शून्य भी कह सकते हैं। दीपशिखा एकाग्र हो गई है यह भी कहा जा सकता है। इस स्थिति का दर्शन सम्यक् दर्शन है। इसमें बाह्यता का मिश्रण नहीं रह जाता। यह अवस्था स्थायी होते ही दीपशिखा को वज्रभाव की प्राप्ति हो जाती है।

वज्रभावापन्न दीपशिखा को कोई बुझा नहीं सकता। वह मृत्युहीन दीपशिखा है। मृत्यु बाह्य वस्तु का घातजनित आवरण है, जो अशुद्ध है। जिसमें लेशमात्र बाह्यता नहीं है, उसकी मृत्यु कैसे होगी?

प्रश्न उठता है कि उस वज्रभावापन्न दीपशिखा को देखूँगा कैसे? इसका उत्तर है कि उस समय मैं भी वज्रभावापन्न हूँ। मेरी इन्द्रियाँ उपसंहृत होकर मन में घनीभूत हो चुकी हैं। मन भी वज्रावस्था सम्प्राप्त कर चुका है। इस प्रकार के मन से वज्रावस्था प्राप्त दीपकलिका का दर्शन करने में मैं समर्थ हूँ। यदि कोई स्वशक्ति से दीपकलिका को वज्रभावापन्न कर सके और मैं द्रष्टारूप से सम्मुख आसीन रहता हूँ, उस स्थिति में मुझे वज्रावस्था स्वयमेव प्राप्त हो सकती है। उसके लिये पृथक् चेष्टा की आवश्यकता नहीं है।

उपरोक्त प्रक्रिया सबके लिये ग्राह्य नहीं है। कारण एक भी विक्षिप्त रश्मि का हठात् समावेश भयंकर स्नायविक आघात (Nervous shock) पहुँचा सकता है। इस स्थिति में इस वज्रदीप का दर्शन मुझे मोहाच्छन्न कर सकता है। कारण, बोध रक्षा नहीं हो सकेगी। इसलिये मन की आधारशक्ति की शनैः शनैः अभिवृद्धि करनी होती है। आधार शक्ति सुदृढ़ होने के पश्चात् वज्रमन के साथ वज्रदीप का योग होना चाहिये। उस स्थिति में जो कुछ भी देखा जायगा, वही वज्रमय (स्थिर) हो सकेगा। उस स्थिति में सामान्य अवस्था के समान बहुत्व का दर्शन नहीं होता। जो कुछ भी ग्रहण करना हो अथवा ग्रहण करने की इच्छा का उदय हो, मात्र उसी का दर्शन संभव है। उस स्थिति में विक्षिप्तता का लेश भी नहीं है। मन का विकल्प भी समाप्तप्राय है। साथ ही इच्छित वस्तु में भी मिश्रभाव अवशिष्ट नहीं रहता। उस स्थिति में जिसे देखा जाता है, मात्र उसी की सत्ता अवभासित होती है।

इस वज्रावस्था में अनेक रहस्य निहित हैं। इस अवस्था में सर्वान्त में चतुर्दिक कुछ भी नहीं दीखता। केवल अपना दर्शन होता है। वज्र ही आत्मा है। मन स्वयं को स्वयं देखता है। इसी का नाम है प्रज्ञा।

देहावस्थान काल में इसका दर्शन ही होता है, इसमें स्थिति नहीं हो सकती। दर्शन का अर्थ है उसके साथ स्वप्रकाशमय अथवा चैतन्यपूर्ण ऐक्य। तत्पश्चात् इस स्थिति से पुनः अवरोह होता है।

इस दर्शन का रहस्य क्या है ? जब तक संस्कार है, इच्छा है, तब तक यह भी तदनुरूप होता है। इच्छाशक्ति से मन को आत्मभूमि अथवा वज्रभूमि पर्यन्त उन्नीत करने के पश्चात् इच्छा का मूल (प्रकाशकाल अर्थात् इच्छा उद्रेक का क्षण) प्राप्त होता है। तदाकार आत्मदर्शन होता है, (इच्छानुरूप आत्मदर्शन होता है), तथापि वहाँ इच्छा अथवा संस्कार शेष नहीं रहते, क्योंकि उनकी तृप्ति हो जाती है। इस तृप्ति को निम्न प्रदेश तक संचारित करने का कौशल जान लेने पर सृष्टि होने लगती है। आत्मा (वज्र) अव्यक्त है। वह निराकार है। वही अनन्त आकारमय एवं अवर्णनीय भी है। यहाँ पर इच्छा का लय ज्ञान में होने लगता है। इसके पश्चात् उसके साक्षात्कार का क्षण समागत हो जाता है। वह इच्छा क्रियाशक्ति रूप से आविर्भूत होती है। लिंग एवं संस्कार क्षेत्र से उन्नीत करते-करते, शोधित एवं घनीभूत करते-करते (वही इच्छा) शुद्ध ज्ञानरूप में परिणति प्राप्त करती है। यही है शुद्ध आकार।

क्रमिक लीला दर्शन



अब क्रम वर्णन करता हूँ:—

(१) साधारण अवस्था—अहंकार है। मैं स्वयं को कर्त्ता एवं भोक्ता मानता हूँ। अतः ईश्वर सिद्ध नहीं है। वर्तमान कर्म ही कर्म है। वही मेरी इच्छा है।

(२) उन्नत अवस्था—अहंकार की तीव्रता कम हो चुकी है। मोह की मात्रा भी न्यून है। मैं कर्त्ता हूँ। परन्तु भेद यह है कि "मैं" वर्तमान में स्थित नहीं है।

मेरी इच्छा एवं चेष्टा बाधित होती है। कौन बाधा दे रहा है ? द्वितीय और है कौन, जो बाधा देगा ? मैं ही अपने को बाधा देता हूँ। मेरा पूर्वकर्म, संस्कार तथा वर्तमान कर्म बाधा देता है। यही मेरी प्रकृति है। इस अवस्था में पुरुषकार एवं प्रकृति, दोनों रहती है। साधारण अवस्था में प्रकृति की ओर

दृष्टि नहीं जाती। इस वर्तमान अवस्था में ही उधर दृष्टि जाती है। प्राथमिक अवस्था में मोहवशात् प्रकृत सत्ता की ओर लक्ष्य नहीं होता। ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ अज्ञान राज्य का भेद उद्‌धाटित हो जाता है।

(३) इसके पश्चात् कर्तृत्व समाप्त हो जाता है। उस स्थिति में मैं कर्त्ता नहीं हूँ, द्रष्टामात्र हूं। प्रकृति ही सब कुछ करती है। यद्यपि वह मेरी ही प्रकृति है, तथापि अहंभाव के अभाव में उसके प्रति ममत्व नहीं है।

(४) तदनन्तर प्रकृति के कर्तृत्व की अनुभूति नहीं रहती, कारण उस स्थिति में क्रिया भी अव्यक्त है।

(५) भगवान की कृपा होती है। ज्ञात होता है कि वे ही कारयिता हैं। मैं कर्त्ता हूँ। कर्त्ता होने पर भी इस कर्तृत्व में भय एवं बन्धन नहीं है। यह है, दासत्व। मैं द्रष्टा एवं कर्त्ता रूप हूँ, तथापि भगवान की प्रेरणा से। वे हैं नियामक मैं हूँ नियम्य। यही आश्रितभाव है। मैं देखता हूँ कि वे ही सर्वाधार हैं, सब कुछ कराते हैं। मेरे सब कुछ करने और कहने के मूल में उनकी ही सत्ता सत्तान्वित है। समग्र जगत् की समस्त क्रिया है उनकी इच्छा। पाप-पुण्य इस अवस्था में नहीं रहते।

(६) उन्नतर अवस्था में क्रमशः यह ज्ञात होने लगता है कि वे ही कर्त्ता हैं। मैं देख रहा हूँ, वे सब कुछ कर रहे हैं। यही है अभिनय, लीला का सूत्रपात। मैं हूँ द्रष्टा वे हैं अभिनेता। वे ही साक्षात्‌भावेन अनन्त अभिनय कर रहे हैं। यह अभिनय क्यों है? अभिनय का लक्ष्य है लीला प्रस्फुटन, हमें दिखाने हेतु। अन्य कोई उद्देश्य नहीं है। इस अवस्था में उनकी विश्व-रूपता का, विश्वकर्मत्व का, ज्ञान होता है।

(७) यह भक्ति का स्तर है। मैं देखता भी हूँ, और देखकर आनंद पाता हूँ। आनन्द अर्थात् लीलादर्शन जनित उल्लास। पूर्वोक्त आश्रितावस्था में दर्शक भाव का उदय होने पर लीलानन्द संभोग का अधिकार प्राप्त होता है।

(८) इस स्थिति का विकास होने पर देखता हूँ कि अब वे भी कर्त्ता नहीं है। वे मात्र द्रष्टा हैं। मैं उन्हें देखता हूँ। बाह्यलीला का लेश भी नहीं है। वे भी मुझे देख रहे हैं। परस्पर-परस्पर का दर्शन होता जा रहा है। यह प्रेम की स्थिति है। प्रेम से उनमें एक तरंग का उद्‌भव हो रहा है। मुझमें भी एक तरंग उठ रही है। दोनों तरंगे परस्पर मिलती जा रहीं है।

(९) इसके पश्चात् आलिंगन है।

(१०) सर्वान्त में है रसस्थिति।

देवता से पूर्ण ब्रह्म की यात्रा



सर्वप्रथम देखना, द्वितीयत: होना अन्त में अतिक्रमण करना। पहले देवता का दर्शन होना चाहिये। तत्पश्चात् देवता होना पड़ता है। तृतीयावस्था में देवता का अतिक्रमण करना होगा। इस स्थिति के साथ-साथ देवता अपने अंगीभूत हो जाते हैं। स्वशक्ति रूप में परिणति प्राप्त करते हैं।

देवदर्शन क्यों नहीं प्राप्त करता हूँ? आवरण के कारण। आवरण भंग ही साधना है। देवता को देखकर स्वयं देवरूप क्यों नहीं हो रहा हूँ? आवरण के कारण। यह है द्वितीय आवरण का भेद। देवता होकर भी देवतातीत क्यों नहीं हो रहा हूँ? आवरण के कारण। इसे भङ्ग करने से तृतीय आवरण का भेद हो जाता है।

प्रथम आवरण का भेद कर्म द्वारा होता है। द्वितीय आवरण का भेद होता है उपासना द्वारा। तृतीय आवरण का भेद होता है शक्ति द्वारा। उपासना का पर्यवसान है ज्ञान। इससे देवता के साथ अभेद की प्रतिष्ठा होती है। इसके पश्चात् कृपा द्वारा भक्ति स्वयमेव आविर्भूत होने लगती है।

देवता पंचमहाभूतों से आवरित है। आत्मा देवता द्वारा आच्छादित है। सर्वप्रथम पंचमहाभूत से देवता को विविक्त करना चाहिये, यही कर्म है। देवता विविक्त होकर प्रकट होते हैं। इस प्रकटीकरण से उपासना का प्रारम्भ होता है। फल है तादात्म्य लाभ। तदनन्तर ज्ञान द्वारा देवता से आत्मा को विविक्त (Extract) करना चाहिये। जब आत्मा पूर्णरूपेण विविक्त हो जाती है तब ज्ञान की परिसमाप्ति हो जाती है, एकमात्र आत्मा ही अवशिष्ट रह जाती है। इस स्थिति में आत्मा परमात्मा से अभिन्न है। तदनन्तर भक्ति द्वारा परमात्मा को भी आत्मा से विविक्त करना चाहिये। परमात्मा की पूर्णता है भक्ति का चरम विन्दु। अब परमात्मा एवं पूर्णब्रह्म अभिन्न हो जाते हैं। चरम स्थिति में

परमात्मा से पूर्ण ब्रह्म को विविक्त करना पड़ता है। इस विविक्तता की पूर्णता सम्पादित होने के पश्चात् ब्रह्मज्ञान भी शेष नहीं रहता। जो रह जाता है, वह है पूर्ण ब्रह्म।

प्रथमावस्था में पंचमहाभूत देवता के साथ सम्पृक्त रहते हैं। देवता प्रकाशित नहीं रहते। पंचमहाभूत ही प्रकाशित (अनुभूत) होता है। यह स्थिति रहती है, कर्महीन अवस्था पर्यन्त। कर्मरत होने के पश्चात् देवता पंचमहाभूत से असं पृक्त हो जाते हैं। अब पंचमहाभूत देवता के अन्तर्गत, उनकी शक्ति रूप से अनुभूत होते हैं। पंचमहाभूतों की पृथक् सत्ता नहीं रहती। यह है पंच-महाभूत पर विजय।

द्वितीय अवस्था अर्थात् देवता आत्मा से सम्पृक्त रहते है। देवता रूप से आत्मा प्रकाशित रहती है। उपासना द्वारा आत्मा असम्पृक्त (अलग) होने लगती है। अब देवता आत्मा का शक्तिरूप से, आत्मान्तर्गत प्रकाशित होते हैं। उनकी पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। यह है देवता जय। उपासना के अन्त में देवता आत्मरूप से दर्शन देते हैं, जब कि उपासना के प्रारम्भ में आत्मा देवतारूप से प्रतिभात हो रही है।

तृतीय अवस्था, इसमें आत्मा परमात्मा के साथ सम्पृक्त रहती है। आत्मा रूपेण परमात्मा प्रकाशित होते हैं। ज्ञान से परमात्मा असंपृक्त होते हैं। आत्मा की सत्ता परमात्मा में, उनकी शक्तिरूप से प्रकाशित होती है, पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। इसे आत्मजय कहते हैं।

चतुर्थावस्था में परमात्मा और पूर्ण ब्रह्म सम्पृक्त रहते हैं। भक्ति बल से पूर्णब्रह्म असंपृक्त होते हैं। परमात्मा अब अलग नहीं रह जाते, अपितु पूर्णब्रह्म की शक्ति रूप से प्रकाशित होते हैं। यह है परमात्मा जय।

पंचम अवस्था है पूर्णस्थिति।

दृष्टि एवं ज्योति



कोई-कोई देवता अपने मण्डल के बाहर देखने में समर्थ नहीं होते। स्वमण्डल को भी निज ज्योतिरूप देखते हैं। जो भक्त उनके मण्डल में प्रविष्ट

हैं, उन्हें भी ज्योति रूप देखते हैं जो भक्त अत्यन्त उन्नत हैं। उनकी ही आकृति (रूप) को देख सकते हैं। भक्त की उन्नत स्थिति में देवता भी निज रूपबोध युक्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् स्वयं में भक्त की उपलब्धि करते हैं और देखते हैं। यह है भक्त का उत्कर्ष अर्थात् सायुज्य। अन्त में निजबोध पूर्ण अवस्था अवशिष्ट रह जाती है। देवता और भक्त का द्वैत रूपी व्यवधान अस्तमित हो जाता है।

अपने मण्डल से व्यतिरिक्त मंत्र प्राप्त साधक को तथा मंत्र को देवता नहीं देख सकते। यदि देख सकते, उस स्थिति में वह मंत्र उसी देवता की ज्योति से ज्योतित होकर, उसी द्रष्टा देवता का मण्डलस्थ मंत्र हो जाता। इस प्रकार कोई भी देवता अपने मण्डल से व्यतिरिक्त किसी को भी नहीं देख सकते। इतने पर भी उनकी करुणामय बाह्य दृष्टि की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी करुणामयी बाह्य दृष्टि के फलस्वरूप साधकजन सालोक्य की प्राप्ति करने में समर्थ होते हैं। करुणादृष्टि की भी एक सीमा (Limitation) है। अपूर्ण देवता को विश्वव्यापी करुणा-दृष्टि प्राप्त नहीं होती। जिनकी करुणादृष्टि की अन्तर्भेदशीलता अनन्त में प्रसारित है वे बुद्ध पदवाच्य हैं। सान्त तथा सीमित को बोधिसत्व अथवा अन्य समानार्थक संज्ञा से अभिहित किया जाता है। सान्त करुणा स्वकीय भाव से परिच्छिन्न रहती है, अतएव उक्ति है कि देवता सबको नहीं देखते।

सबको कौन देखता है? धर्म सबको देखता है। उसकी दृष्टि समान, व्यापक तथा सर्वत्र वर्तमान है। वह किसी की उपेक्षा नहीं करता। उसकी दृष्टि में करुणा नहीं है। उसकी दृष्टि में है, न्याय एवं नियम। वह अखण्ड है। धर्म ही कर्म फल देता है। उसमें त्रुटि, विच्युति को स्थान नहीं, अतः अलंघ्य है। जीव इसकी दृष्टि से भयभीत है। प्रति नेत्रस्पन्दन की प्रतिक्रिया इसी से संचालित होती है। धर्म साक्षी है। सबको देखता है। समदृष्टि द्वारा यह जगत् संचालित है।

जहाँ करुणादृष्टि का संचार हो चुका है, वहाँ धर्म की समदृष्टि कार्य नहीं करती। करुणादृष्टि से जीवोद्धार होता है। इस करुणादृष्टि का आश्रित होने पर अथवा इसकी सीमा में पड़ने पर धर्मराज्य की सीमा का अतिक्रमण हो जाता है। उसके लिये धर्मराज्य भी करुणामय हो जाता है। करुणा के बाहर नियम कार्य करता है। जब तक जीव अनाश्रित है, तभी तक देहात्मभाव में ग्रसित हो, कर्तृत्वाभिमान मूलक कर्म का कर्त्ता है।

शुद्धसत्व की ज्योति एवं मलिन सत्व की ज्योति में पारस्परिक पार्थक्य विद्यमान है। शुद्धसत्व की ज्योति घनीभूत ज्योति है। उससे कोई भी जागतिक वस्तु देखना संभव नहीं है। साधक के सामने यदि यह ज्योति प्रस्फुटित होती है, उस स्थिति में मात्र साधक ही उसका अनुभव करने में समर्थ हो सकते हैं।

मलिन सत्व की ज्योति में मर्त्यलोक की सत्ता विद्यमान है। उससे सभी जागतिक वस्तु समूह प्रकाशित हो सकते हैं। उसमें यह जगत अन्तर्हित रहता है, अतः ज्योति निःक्षेप से जगत् प्रतीत होने लगता है।

प्रथम ज्योति है दिव्य ज्योति-दिव्यचक्षु। यह मर्त्यलोक की वस्तु नहीं है। इसी ज्योति में दिव्यधाम मग्न रहते हैं। यह ज्योति अनन्त रूपमयी है। सभी प्रकार की ज्योति की पृष्ठभूमि में इसी ज्योति की कार्यकारिता विद्यमान रहती है। शुद्ध दिव्यज्योति देवता भेद से विभिन्न है। जिस देवता की ज्योति का प्रकाशन होता है, उसी देवता के लोक में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। जिन्हें व्यापक सत्व की ज्योति का संधान प्राप्त है, वे एक देवलोक से अन्य देवलोक में यातायात कर सकने में समर्थ होते हैं। यही नहीं, पृष्ठभूमिस्थ शुद्धसत्व का संधान प्राप्त रहने से, देवलोक से अतीत स्थान में भी यातायात संभव है। यह प्रकाश अनासक्त प्रकाश है। आलोक एवं अन्धकार, दोनों में परिव्याप्त है।

जिस देवता का चिन्तन होगा, उन्हे देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ नारायण का दर्शन करने की इच्छा का उदय। भक्ति पूर्वक, मंत्र, एकाग्रता से, मूर्ति चिन्तना से, मूर्ति में परिशुद्धि का संचार एवं संस्कार होता है। संस्कार से निजलोकस्थ नारायण के सम्मुख यह मूर्ति भासित हो उठती है। भासित होते ही उस पर नारायण का दृष्टिपात होता है। मूर्ति में सजीवता आती है, दृष्टि द्वारा। भक्ति-मंत्रादिक के प्रभाव से नारायण का चित्त क्षुब्ध होता है। वे क्षणकाल के लिये बाह्य दृष्टि उन्मुक्त कर देखते हैं। मूर्ति पर उनकी दृष्टि केन्द्रित होती है। वास्तव में जिस मूर्ति पर दृष्टि पड़ती है, वह है साधक द्वारा चिन्तनीय मूर्ति का प्रतिबिम्ब, जो निजलोकस्थ नारायण के सम्मुख भासित हो रहा है। यह मूर्ति है पृथ्वीस्थ साधक की आराध्या स्थूल मृण्मूर्ति का सूक्ष्मांश। नारायण द्वारा दृष्टि निःक्षेप से वह सात्मक हो उठती है। अभक्ति-अनाचार-प्रभृति का प्रतिबिम्ब नहीं बनता। बिम्ब वापस लौट आता है। प्रतिबिम्ब न बनने से अभक्ति, अनाचार आदि पर नारायण की दृष्टि नहीं पड़ती। वह वापस आकर साधक को ही आक्रान्त कर लेता है। इसी कारण अभक्ति एवं अनाचारादि में देव-सन्निधान दुर्लभ है।

तत्पश्चात् नारायण की दृष्टि से जाग्रत मूर्ति पर साधक की दृष्टि पड़ती है। नामचिन्तना करने से नाम पर नारायण की दृष्टि पड़ती है। नाम में चेतना का संचार होता है। नारायण की भावना करने से और अभक्ति इत्यादि न रहने से नारायण का दृष्टिपात अवश्यम्भावी है। उनकी दृष्टि पड़ती है, भावना करने वाले के ऊपर। भक्ति, एकाग्रता से सरोबार होने पर दृष्टिपात के साथ-साथ उस मूर्ति में नारायण का आविर्भाव भी हो सकता है। यही नहीं, नारायण उस मूर्ति से बाहर भी आकर प्रकट हो सकते हैं और भी विकास होने पर साधक स्वयं उस मूर्ति में प्रवेश करता है। इस प्रक्रिया में दिव्यचक्षु आवश्यक है। दिव्यचक्षु द्वारा इस समस्त प्रक्रिया का दर्शन सम्भव है।

सभी वस्तु समूह का एक अलग प्रतिविम्ब आकाश में पड़ता रहता है। वह साधारण लोगों की दृष्टि में नहीं आता। कारण साधारण जन वस्तु को शुद्ध दृष्टि से देखने में समर्थ नहीं होते। वे जिसे भी देखते हैं, उसका प्रतिविम्ब विम्ब में निमज्जित ही दीखता है। साधारण जन उसे देख कर भी नहीं जानते। ज्ञानचक्षु खुलने पर इस प्रतिविम्ब की पृथक रूप से उपलब्धि की जा सकती है। वह वस्तु से पृथक् होकर अवभासित होता है।

ब्रह्मादि देवगण किसकी आराधना करते हैं? वे साधन नहीं करते। कारण वे साधक नहीं, अपितु सिद्ध भूमि पर आरूढ़ हैं। वे योग करते हैं। उनका ध्येय है-ज्योति। यह दिव्यज्योति नहीं है। वे जिसका ध्यान करते हैं, वह दिव्यज्योति से भी श्रेष्ठतर ब्रह्मज्योति है। दिव्यज्योति तो ब्रह्मादि की अपनी ज्योति है। योग के समय दिव्यज्योति अवगुंठित हो जाती है, और ब्रह्मज्योति का प्रकाशन होता है। दिव्यज्योति अवगुंठित होते ही ब्रह्मादि देवगण अदृश्य होकर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

मनुष्य साधना करता है सिद्धि के लिये। संयम से उसका विकिरण केन्द्रीभूत होने लगता है। यह है एकाग्रता। इस स्थिति में वह जगत् को नहीं देखता। जगत् भी उसे नहीं देखता। वह देखता है उपास्य की ज्योति को। तत्पश्चात् देखता है देवता के रूप को और अन्त में स्वयं देवमय हो जाता है। देवमयता की दो अवस्था है। क्रिया के समय साधक देवता में स्थित है। अन्य समय देवता ही साधक में स्थित रहते हैं। क्रिया (अवस्था) में साधक देवता में स्थित रहते हैं। अन्य समय देवता साधक में ओतप्रोत भाव से विद्यमान हो जाते हैं। तदनन्तर जब देवता योगस्थ होते हैं, उसी समय साधक योगीपद

वाच्य होता है योगीपद पर आरोहण करते-करते दिव्यज्योति केन्द्रित होने लगती है। अब ब्रह्मज्योति का प्रस्फुटन होता है। इसके परे है महायोग की स्थिति अर्थात् ब्रह्मज्योति का तिरोधान।

शुद्ध सत्त्वस्थ देवता एकाग्रभूमि में स्थित रहते हैं। स्वयं में एकाग्रता की प्रतिष्ठा होने पर उनका साक्षात्कार संभव है। एकाग्रभूमि का नियम है—सदा एक वस्तु में निरत रहना। वाह्य व्यापार (जागतिक) में लगे रहने पर भी और नाना स्थानों पर जाते रहने पर भी एकाग्रता में न्यूनता नहीं आती, यदि एकाग्रता सुप्रतिष्ठ हो चुकी है। एक वस्तु में लक्ष्यस्थिति रहने पर भी एकांश से अन्य कार्य सम्पादित होते रहते हैं। अन्य कार्य सम्पादित होते ही उपरोक्त एकांश एकाग्र केन्द्र में लौट आता है।

ईश्वर स्वयमेव एकाग्रभूमि में स्थित हैं, वे निरोध में निरत हैं। अन्यान्य देव-देवीगण ईश्वर में निरत रहते हैं। इसी कारण ईश्वर हैं महायोगी। योगस्थ रहने पर भी निरोध तथा गुणातीतत्व से ओतप्रोत रहते हैं। स्वयं ही स्वयं के ध्यान में निमग्न रहते हैं।

जो वृद्धिगत होता है, जिसमें विकास है, वह पूर्ण नहीं है। जिसके पश्चात् कोई अवस्था ही नहीं है, जिसकी अब अभिवृद्धि नहीं हो सकती, वही पूर्ण है। जिसका सर्वांश प्रकाशित है, कुछ भी अव्यक्त नहीं है, वह है पूर्ण। जगत् में जो पूर्णता अनुभूत होती है, उसमें क्रमविकास की प्रक्रिया रहती है। जैसे पूर्णिमा। जिसमें अब वृद्धि नहीं हो सकती। समस्त कलायें प्रस्फुटित हो चुकी हैं, तथापि ह्रास है।

मायातीत पूर्णिमा में न ह्रास है न वृद्धि। वह चिरकाल के लिये सम-भावापन्न, एक भावापन्न है। न घटती है और न उसमें कोई वृद्धि ही हो सकती है।

छाया



एक प्रबल ज्योति निकट रहने से उसके पास छाया भी पड़ती है। ज्योति के प्रतिकूल वस्तु की स्थिति रहने का फल है छाया पात। छाया में निजांश

भी है। ज्योति की अनुकूलता का अर्थ है स्वच्छता। अनुकूलता में ज्योति भीतर चली जाती है, बाधा नहीं पाती। बाधाहीनता अर्थात् छायाहीनता। यही है देवभाव। देवता में छाया नहीं होती। ज्योति में वैषम्य शक्ति भी रहती है। इसी कारण छाया का आविर्भाव होता है। ज्योति की साम्य शक्ति के कारण छाया नहीं पड़ सकती। साम्यशक्ति में गति नहीं है। वह आलोक एवं अंधकार में समाभावेन क्रियाशील है। न बाधा देती है और न बाधा पाती है। उसके लिये स्वच्छ एवं अस्वच्छ समान है। उसे दोनों के वैषम्य का विचार भी नहीं है और न द्वन्द्व है।

देह और ज्योति में पारस्परिक विरोध है। विरोध के कारण संघर्ष फलस्वरूप छाया-सम्पर्क। देह से ज्योतिकणों को अलग कर देने पर ज्योति से भी देह कण वियुक्त हो जाते हैं। फलतः ज्योति एवं देह परिशुद्धावस्था को प्राप्त होती है। यह है साम्य। देह एवं ज्योति, दोनों की साम्य शक्ति-मय अवस्था।

समापन



जगत उनकी विभूति है। क्रिया करते-करते उनकी अनेकानेक विभूति का प्रत्यक्ष होता है। उसमें तृप्ति नहीं है, शान्ति नहीं मिलती, क्षुधा नहीं मिटती। इन्द्रजाल से अभाव कैसे दूर होगा? वास्तविक वस्तु चाहिये। छाया से क्या हो सकेगा?

"ध्यानं निर्विषयं मनः" एक ओर विषय या पंचमहाभूत है, मध्य में है मन। मन से विषयों का उन्मोचन हो जाने पर आलम्बन रूप शेष है, आत्मा।

तन्त्र फाउण्डेशन

(एक महान परम्परा)

तन्त्र फाउण्डेशन का इतिवृत्त पूर्व परम्परा की दृष्टि से अति प्राचीन है। वह जो पहले अव्यक्त सा था, अब अपनी व्यक्तावस्था में उपरोक्त संज्ञा से अभिहित होकर प्रकाशित है। दीर्घजीवी महर्षि मतंग तथा महर्षि महातपा ने इस परम्परा के अखण्ड प्रदीप को सिद्धाश्रम एवं ज्ञानगंज की रहस्यमयी गुप्त भूमि में सदियों से जलाये रक्खा है। यह प्रदीप हमारे हृदय प्रकोष्ठ में निहित, आँख से ओझल, युगान्तव्यापी अन्धकार का नाशक है।

इन परम्पराओं से परिपूत एवं मानवता के चरम लक्ष्य के वाहक इस संस्थान ने सभी दर्शन धाराओं का समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया है। इससे यथार्थ ज्ञान चेतना की अनन्त नीलिमा से प्रादुर्भूत हो स्वबोध भूमि पर प्रकाशित हो उठता है।

—: ० :—